श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला–१६.



पण्डितप्रवर जयचन्दजी छावड़ा कृत
देशवचनिका व पद्यानुवादसहित
आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव-प्रणीत

द्रव्य-संग्रह

(प्रस्तावना, परिशिष्टान्तर्गत संस्कृत-व्याख्या व
हिन्दी-रूपान्तर आदिसे युक्त)



सम्पादक
दरबारीलाल कोठिया
एम. ए., न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य
प्राॅध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

सम्पादक और नियामक

पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

दरबारीलाल कोठिया

जनदर्शनाध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रकाशक

मंत्री, गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

१।१२८, डुमरावबाग-वसति

अस्सी, वाराणसी–५

प्रति ११००

द्वितीय श्रावण, वी नि सं. २४९२

अगस्त १९६६

मूल्य : रु० २-५०

मुद्रक

बाबूलाल जैन फागुल्ल

महावीर प्रेस

भेलूपुर, वाराणसी–१

विषयानुक्रम

ग्रन्थ-प्रकाशनमें सहायक

यह ग्रन्थ जिनकी उदार आर्थिक सहायतासे प्रकाशित हो सका है, उनके नाम धन्यवाद-सहित यहाँ दिये जाते हैं।

—मंत्री

५००) बा० विजयकुमारजी जैन (सुपुत्र ला० फतेहचन्दजी) व सौ० शैलवाला बी. ए. (धर्मपत्नी बा० विजयकुमारजी) कानपुर, मार्फत—ला० हरिश्चन्द्रजी, दिल्ली।

१००) ला० राजकृष्णजी जैन, दिल्ली (अपने पौत्र चि० भारतभूषणके विवाहोपलक्ष्यमें)।

१०१) ला० प्रकाशचन्द्र शीलचन्द्रजी जैन जौहरी, दिल्ली।

१०१) ला० जैनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, दिल्ली।

५१) श्रीमती धर्मपत्नी बा० प्रागदासजी जैन, काशी।

प्रकाशकीय

कोई तीन माह पूर्व, अप्रैल १९६६ मे इस ग्रन्थमालाद्वारा **'जैनदर्शन'**-के द्वितीय सस्करणका प्रकाशन हुआ था। हर्ष है कि आज ग्रन्थमाला एक और अभिनव एव अप्रकाशित ग्रन्थको प्रकट कर रही है। वह ग्रन्थ है पण्डितप्रवर **जयचन्दजी छावड़ा** कृत **द्रव्यसंग्रह-देशवचनिका** और **द्रव्यसंग्रह-भाषा** (द्रव्यसग्रह-पद्यानुवाद)। यद्यपि आचार्य **नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवका 'द्रव्यसंग्रह'** अपनी लोकप्रियताके कारण मूलरूपमे और **ब्रह्मदेवकी** सस्कृत-व्याख्या एव आधुनिक विद्वानोकी अनेक मराठी-अग्रेजी-हिन्दी-व्याख्याओके साथ कई बार प्रकाशित हो चुका है। परन्तु पं० **जयचन्दजी** कृत यह **द्रव्यसंग्रह-वचनिका** और **द्रव्यसंग्रह-भाषा** दोनो पहली बार प्रकाशित हो रहे है। यह **वचनिका और भाषा** राजस्थानी ढूढारी देश-भाषामे लिखे गये है तथा एक-सौ साठ वर्ष प्राचीन है। अतः उनके इस वैशिष्ठ्य एव महत्त्वको ध्यानमे रखकर उन्हे उनके वर्तमान रूपमे ही प्रकाशित किया गया है—उनमे कोई परिवर्तन नही किया गया। यथार्थमे स्वाध्यायप्रेमियोको जो आनन्द मूल **वचनिकासे** प्राप्त होगा, वह उसके रूपान्तरमे नही। फिर भी उनकी भाषा और भाव कठिन प्रतीत न हो, इस दृष्टिमे **द्रव्यसंग्रह**का हिन्दी-रूपान्तर भी परिशिष्टमे दे दिया गया है, जो जिज्ञासुओके लिए दृष्टव्य है। छात्रोके लिए एक सक्षिप्त एव सुबोध सस्कृत-व्याख्या भी उक्त हिन्दी-रूपान्तरके साथ लगा दी गई है। इस तरह इस सस्करणको पर्याप्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण बनानेका प्रयत्न किया गया है। आशा है यह सभी पाठकोको लाभप्रद सिद्ध होगा।

सम्पादकीयमे सम्पादक द्वारा यह बताया हो गया है कि इस **वचनिका**-

की प्रतियाँ कैसे उपलब्ध हुई और उसके प्रकाशनकी आर्थिक व्यवस्था किस प्रकार बनी ? अत उसके सम्बन्धमे पुन कहनेकी आवश्यकता नही है। हाँ, जिन उदार सज्जनोने इसके प्रकाशनमे आर्थिक सहायता प्रदान की है, उनके नाम धन्यवाद-सहित अन्यत्र उल्लिखित है।

अन्तमे ग्रन्थमाला-प्रबन्ध-समितिके सदस्यो और ग्रन्थमाला-प्रेमियोके हम विशेष आभारी है, जिनका सहयोग हमे सदा प्राप्त है। प्रिय **बाबूलालजी फागुल्लने** अपने प्रेसमे ग्रन्थका सुन्दर मुद्रण किया। इसके लिए उन्हे तथा प्रेसके कार्य-कर्ता-गणको धन्यवाद है।

नेमिचन्द्र शास्त्री
(एम० ए०, आचार्य, पी-एच० डी०, डी० लिट्)
सयुक्त मत्री

दरबारीलाल कोठिया
(एम० ए०, आचार्य)
मत्री

१२ अगस्त, १९६६.



सम्पादकीय

प्रतियोंकी प्राप्ति :

लगभग डेढ वर्ष पहले—मार्च १९६५—की बात है। बा० लक्ष्मी-चन्द्रजी बी० ए०, एल-एल० बी०, बड़ौत (मेरठ)ने लिखा कि 'यहाँ के दि० जैन पंचायती मन्दिरके शास्त्र-भण्डारमे आ० नेमिचन्द्र-रचित द्रव्यसग्रहकी पण्डित जयचन्दजी कृत देशवचनिका मौजूद है। वह प्रकाशित हो गई, या नही ? यदि प्रकाशित नही हुई, तो क्या आप उसे प्रकाशित कर सकेगे ?' हमने उन्हे उत्तरमे लिखा कि 'वचनिकाकी प्रति भेज दीजिए। उसे देखकर उसके प्रकाशन आदिके बारेमे लिख सकेगे।' बा० लक्ष्मीचन्द्रजीने उल्लिखित शास्त्र-भण्डारके मत्री ला० प्रेमचन्द्र-जी मर्राफमे वचनिकाकी पाण्डुलिपि लेकर हमे भेज दी। हमने उसे देखा और इस निष्कर्षपर पहुँचे कि यह वचनिका द्रव्यसग्रहकी प्राचीन एवं उपयोगी भाषा-टीका है और वह अभी तक कहीसे प्रकाशित नही हुई। अत उसका प्रकाशन अवश्य होना चाहिए। यही हमने बा० लक्ष्मी-चन्द्रजीको लिख दिया।

अब प्रश्न उसके प्रकाशन और आर्थिक व्यवस्थाका आया। पहले हमने उसकी प्रतिलिपि (प्रेस-कापी) करा लेना उचित समझा। और जब उसकी प्रतिलिपि कराई गई, तो उसमे बहुत अशुद्धियाँ और त्रुटित अश प्रतीत हुए। और इस लिए दूसरी प्रतियोको उपलब्ध करनेकी अपेक्षा महसूस हुई। किन्तु प्रयत्न करने पर भी कई महीने तक वे प्राप्त न हो सकी। इसी बीच २८ दिसम्बर १९६५ की अपनी वाराणसी बैठकमे ग्रन्थमाला-प्रबन्ध-समिति इसके व 'जैनदर्शन' के प्रकाशनकी स्वीकृति दे

चुकी थी। अब चिन्ता आर्थिक व्यवस्थाकी थी। सुयोगसे गत जनवरी १९६६ मे हमे ला० **राजकृष्णजी** जैन दिल्लीके पोते चि० **भारतभूषणके** विवाहमे जानेका अवसर मिला। प्रसन्नताकी बात है कि ला० **राजकृष्णजी** के लघुभ्राता ला० **हरिश्चन्द्रजी** जैन दिल्लीने अपने दामाद बा० **विजय-कुमारजी** व पुत्री सौ० **शैलबाला कानपुरकी** ओरसे इस **द्रव्यसग्रह-वचनिकाकी** ५०० प्रतियोके प्रकाशनमे ५००) की स्वीकृति दी तथा ला० **राजकृष्णजीने** भी स्वय उसकी १०० प्रतियोके लिए १००) और डा० **महेन्द्रकुमारजीके 'जैनदर्शन'** की १०० प्रतियोके लिए ७००) कुल ८००) प्रदान किये। इस तरह ग्रन्थ-प्रकाशनके लिए कुछ आर्थिक सहायता मिल जानेसे उक्त दोनो ग्रन्थ दिल्लीसे आते ही प्रेसमे दे दिये गये। फलतः **'जैनदर्शन'** सिर्फ तीन माह (गत अप्रैल १९६६) मे ही छपकर पाठको तक पहुँच चुका है। **द्रव्यसग्रह-देशवचनिका** भी अब तक छप चुकी होती। पर उसकी दूसरी प्रतियोकी उपलब्धिके लिए प्रयत्न चलता रहा। प्रतियोका पता लगानेके लिए, कि वे और कहाँ उपलब्ध है, **जैनमित्रादि** पत्रोमे भी सूचना प्रकाशित की गई। इस सूचनाको पढकर श्रीमान् प० **हीरालालजी** सिद्धान्तशास्त्री, अध्यक्ष, ऐ० पन्नालाल सरस्वतीभवन, **ब्यावरने** ११ दिसम्बर १९६५ के पत्रमे लिखा कि उनके भवनमे भी **वचनिकाकी** प्रति विद्यमान है। पण्डितजीके अस्वस्थ हो जानेके कारण उनसे वह प्रति ४ फरवरी १९६६ को प्राप्त हो सकी। प्रति बहुत शुद्ध, साफ और अच्छी स्थितिमे है। इधर **बड़ौत** प्रतिके आधारसे तीन फर्मे (४८ पृष्ठ) छप चुके थे। किन्तु फिर आगे **ब्यावर**-प्रतिके अधिक शुद्ध होनेसे उसीके आधारसे **वचनिकाके** शेष भागका मुद्रण हुआ और **बड़ौत** प्रतिके पाठान्तर परिशिष्ट न० ४ मे रखे गये है।

स्मरण रहे कि इसी मध्यमे हमे पता चला कि **जयपुरके** तेरहपथी दि० जैन बडे मन्दिरके शास्त्र-भण्डारमे भी **वचनिकाकी** प्रति विद्यमान

है, जो स्वय प० जयचन्दजीकी हस्तलिखित है[१]। इस प्रतिको भी प्राप्त करनेके लिए मित्रवर डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल जयपुरको लिखा गया। कासलीवालजीने महावीर-भवनमे सुरक्षित एक अन्य प्रति हमे भिजा दी, जो २१ अप्रेल ६६ को प्राप्त हुई। यह प्रति व्यावर जैसी ही शुद्ध और अच्छी स्थितिमे है। परन्तु पं० जयचन्दजीकी हस्त-लिखित प्रति नही मिल सकी। इस तरह जहाँ ये प्रतियाँ कुछ विलम्बसे प्राप्त हुई, वहाँ उनसे ग्रन्थ-सम्पादनमे बडा लाभ हुआ। वे सब अशुद्धियाँ और त्रुटित पाठ ठीक हो गये, जो केवल बड़ौत-प्रतिके आधारसे सम्भव नही थे। इस प्रकार प्रस्तुत वचनिकाका सम्पादन बड़ौत, व्यावर और जयपुरकी तीन प्रतियोके आधारसे हुआ है। ऊपर कहा जा चुका है कि प्रस्तुत वचनिकाके ४८ पृष्ठ बड़ौत-प्रतिके और शेष ३२ (४९ से ८०) पृष्ठ व्यावर-प्रतिके आधारसे प्रकाशित हुए है और तीनोके पाठान्तर परिशिष्टमे दे दिये गये है। पाठकगण पढते समय उनका अवश्य ध्यान रखे।

प्रति-परिचय:

यहाँ उक्त तीनो प्रतियोंका परिचय दे देना अनुपयुक्त न होगा। वह क्रमशः इस प्रकार है :—

१. ब—यह बड़ौत (मेरठ) के दि० जैन पचायती मन्दिरके शास्त्र-भण्डारकी प्रति है। आरम्भमे हमे यही प्रति प्राप्त हुई थी। इसमे कुल पत्र ४६ है। प्रथम पत्रका प्रथम पृष्ठ और अन्तिम पत्रका अन्तिम पृष्ठ खाली है—उनपर कोई लिखावट नही है। शेष ४५ पत्रो अर्थात् ९० पृष्ठोमे लिखावट है। प्रत्येक पृष्ठकी लम्बाई ९-९ इच और चौडाई ६-६ इच है। प्रत्येक पृष्ठमे १३ लाइने और एक-एक लाइनमे

१. प० भवरलालजी न्यायतीर्थ, 'जयपुर राज्यके जैन साहित्यसेवी' शीर्षक लेख, 'वीरवाणी' वर्ष १८, अंक १३, अप्रैल १९६६।

२८ से ३० तक अक्षर हैं। जिस पंक्तिमें संयुक्त अक्षर अधिक हैं उनमें २८ अक्षर हैं और जिसमें संयुक्त अक्षर कम हैं उसमें ३० तक अक्षर हैं। उल्लेखनीय है कि इसमें प्रतिका लेखन-काल भी दिया हुआ है, जो इस प्रकार है—

'इति द्रव्यसंग्रहभाषा संपूर्ण ॥ श्री ॥ संवत् १८७६ माघ कृष्ण ११ भौमवासरे लिखितं मिश्र सुखलाल बड़ौतमध्ये ॥ श्री शुभं मंगलं ददातु ॥ श्री श्री ॥　　　　—मुद्रित पृ० ८०।

इस अन्तिम पुष्पिका-वाक्यसे प्रकट है कि यह प्रति माघ कृष्ण ११ मंगलवार सं० १८७६ में मिश्र **सुखलालद्वारा बड़ौतमें** लिखी गई है। यह प्रतिलेखन-काल ग्रन्थलेखन-काल (सं० १८६३) से केवल १३ वर्ष अधिक है—ज्यादा बादकी लिखी यह प्रति नहीं है। फिर भी वह इतने अल्पकाल (१३ वर्ष) में इतनी अशुद्ध कैसे लिखी गयी? इसका कारण सम्भवतः **वचनिकाकी** राजस्थानी भाषासे लेखकका अपरिचित होना या प्राप्त प्रतिका अशुद्ध होना जान पड़ता है, जो हो। प्रतिदाता ला० **प्रेमचन्द्रजी** सर्राफने प्रति-प्रेषक बा० **लक्ष्मीचन्द्रजीको** यह कहकर प्रति दी थी कि मूल **वचनिका** ज्यों-की-त्यों छपे—जिस भाषा और जिन शब्दोंमें **पं० जयचन्द्रजीने** टीका की है वे जरूर कायम रहें। उनकी इस भावनाको ध्यानमें रखा गया है और **पं० जयचन्द्रजीकी** भाषा एवं शब्दोंमें ही उनकी **वचनिका** छापी गई है। इस प्रतिको **बड़ौत** अर्थ सूचक **'ब'** संज्ञा रखी है।

२ **ब—**यह **ब्यावरके** ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती-भवनकी प्रति है। इसमें कुल पत्र ५७ अर्थात् ११४ पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठकी लम्बाई सब दोनों ओरके हाँसियोंके १० इंच है। १, १ इंच पत्रके दोनों ओर हाँसियोंके रूपमें रिक्त है और मात्र ८ इंचकी लम्बाईमें लिखाई है। इसी तरह चौडाई ऊपर-नीचेके हाँसियोंसहित ५ इंच है और दोनों ओर

$\frac{3}{4}$, $\frac{3}{4}$ इच खाली है तथा शेष ३$\frac{1}{2}$ इच चौडाईमे लिखाई है। एक पृष्ठमे १० और एक पत्रमे २० पक्तियाँ तथा प्रत्येक पक्तिमे प्राय ३०-३० अक्षर है। प्रति पुष्ट और मजबूत है तथा शुद्ध और सुवाच्य है। इसमें बड़ौत प्रतिकी तरह प्रतिलेखन-काल उपलब्ध नही है। जैसा कि उसके अन्तिम पुष्पिका-वाक्यसे स्पष्ट है और जो मुद्रित पृ० ८० के फुटनोटमे दिया गया है। इस प्रतिका साकेतिक नाम **ब्यावर**-बोधक **'ब'** रखा गया है।

३ ज—यह **जयपुरके** महावीर-भवनमे स्थित आमेर-शास्त्रभण्डार की प्रति है। इसमे कुल पत्र ५२ है, अर्थात् १०४ पृष्ठ है। प्रथम पत्रका प्रथम पृष्ठ खाली है और उसके दूसरे पृष्ठमे लिखावट आरम्भ है। इसी प्रकार पत्र ५२ के पहले पृष्ठमे सिर्फ ४ पक्तियाँ है। इस पृष्ठका शेष भाग और दूसरा पृष्ठ रिक्त है। इस तरह ५०$\frac{1}{4}$ पत्रो अर्थात् १००$\frac{1}{2}$ पृष्ठोमे लिखावट है। प्रत्येक पृष्ठकी लम्बाई मय दोनो ओरके हासियोके १०$\frac{1}{2}$, १०$\frac{1}{2}$ इच और चौडाई मय ऊपर-नीचेके हासियोसहित ४$\frac{3}{4}$, ४$\frac{3}{4}$ इच है। लम्बाईमे १$\frac{1}{4}$, १$\frac{1}{4}$ इचके दोनो ओर हासिये है तथा चौडाईमे भी ऊपर-नीचे $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{2}$ इच हाँसियोकी खाली जगह है। इस प्रकार ८ इंच लम्बाई और ३$\frac{3}{4}$ इच चौडाईमे लिखाई है। प्रत्येक पृष्ठमे १० पक्तियाँ और प्रत्येक पक्तिमे प्राय ३२ अथवा कम-बढ अक्षर पाये जाते है। प्रति पुष्ट, शुद्ध और सुवाच्य है। **ब्यावर**-प्रति और इस प्रतिके पाठ प्राय. सर्वत्र समान है। इसका अन्तिम पुष्पिका-वाक्य ठीक उसी प्रकार है जैसा **ब्यावर**-प्रतिमे है और जो इसी पुस्तक (पृ० ७४) के अन्तमे मुद्रित है। हा, **द्रव्यसग्रह-भाषाका** अन्तिक पुष्पिका-वाक्य भिन्न है और जो निम्न प्रकार है—

'इति द्रव्यसंग्रहभाषा संपूर्ण ॥ लिपीकृतं माणिकचन्द लेखक लिखापितं सुखराम सिभूराम पापड़ीवाल रूपाहेडीका शुभं भूयात् ॥'

इस पुष्पिका-वाक्यसे दो बातें ज्ञात होती है। एक यह कि इस प्रतिके लेखक माणिकचन्द है और यह सुखराम सिंभूराम पापडीवाल द्वारा लिखाई गई है। दूसरी बात यह ध्वनित होती है कि सुखराम सिंभूराम पापडीवाल रूपाहेडीके रहने वाले थे और सम्भवत. यह प्रति रूपाहेडीमे ही लिखी गयी है। मालूम पडता है कि यह रूपाहेडी उस समय एक अच्छा सम्पन्न कस्बा होगा, जहाँ जैनियोके अनेक घर होगे और उनमे धार्मिक जागृति अच्छी होगी। यह 'रूपाहेडी जयपुरके दक्षिणको ओर करीब २० मीलपर एक छोटे-से गाँवके रूपमे आज भी विद्यमान है और वहाँ ४,५ जैन घर होगे,' ऐसा डा० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवालके उस पत्रसे ज्ञात हुआ है जो उन्होने २९ जुलाई ६६ को लिखा है।

इस प्रतिके प्रथम पत्रके द्वितीय पृष्ठके मध्यमे एक छह पाखुडीका सुन्दर कमलका आकार लाल स्याहीसे बना हुआ है, अन्य पत्रोंमे नही है। इस प्रतिकी जयपुर-सूचक 'ज' संज्ञा रखी है।

इस संस्करणकी विशेषताएँ .

१. अभी तक इस महत्त्वपूर्ण कृतिके प्रकाशनकी ओर कहीसे कोई प्रयत्न नही हो सका और इसलिए यह पहली बार प्रकाशमे आ रही है।

२. द्रव्यसग्रह जैसे बोधपूर्ण एव लोकप्रिय ग्रन्थपर आधुनिक विद्वानोकी अनेक व्याख्याएँ उपलब्ध एव प्रकाशित है। पर इसके प्रकाशमे आनेपर एक ऐसी व्याख्याके अध्ययन एव स्वाध्यायका लाभ होगा, जो डेढ-सौ वर्ष प्राचीन है और सिद्धान्तग्रन्थोके मर्मज्ञ एव अनेक वचनिकाओके लेखक विद्वानद्वारा लिखी गई है।

३ जैन परीक्षाओके अतिरिक्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसीके शास्त्रीय पाठचक्रममे 'द्रव्यसंग्रह' नियत है। अत छात्रोको दृष्टिसे इसके साथ परिशिष्टके

रूपमे सक्षिप्त सस्कृत-व्याख्या और विशद हिन्दी-रूपान्तर भी दे दिये गये हैं।

४. गाथानुक्रम, उद्धरण-वाक्य और पाठान्तरोके तीन अन्य परिशिष्ट भी इसके साथ सम्बद्ध हैं।

५. सम्पादकीयके अलावा मूल ग्रन्थ, ग्रन्थकार, देशवचनिका एवं उसके कर्ताके सम्बन्धमे प्रकाश डालनेवाली महत्त्वपूर्ण प्रस्तावनाकी भी इसमे योजना की गई है।

इस तरह यह सस्करण कई विशेषताओको लिये हुए है।

धन्यवाद :

अन्तमे हम उन सज्जनोको धन्यवाद देना नही भूल सकते, जिनके साहाय्यसे इसे प्रस्तुत किया जा सका है। बा० लक्ष्मीचन्द्रजी और ला० प्रेमचन्द्रजी सर्राफ बड़ौतने अपने यहाँकी वचनिकाकी प्रति भेजकर उसके प्रकाशनमे प्रेरणा की है। श्री प० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री व्यावर और डा० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल जयपुरने भी अपने भवनोकी प्रतियाँ देकर सहायता पहुँचाई है। प्रो० अमृतलालजी शास्त्री वाराणसीने कई मूल्यवान् सुझाव दिए है। श्रद्धेय प० जुगलकिशोरजी मुख्तार, श्री प० परमानन्दजी शास्त्री दिल्ली तथा प० भंवरलालजी न्यायतीर्थ जयपुरके लेखोंसे प्रस्तावनामे मदद मिली है। अत. इन सभी सहायकोको हार्दिक धन्यवाद है।

दरबारीलाल कोठिया

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी
१ अगस्त १९६६,
प्रथम श्रावण शुक्ला पूर्णिमा
वी० नि० सं० २४९२,



प्रस्तावना

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

१. ग्रन्थ :

(क) द्रव्यसंग्रह

प्रस्तुत मूल ग्रन्थ '**द्रव्यसग्रह**' है और उसके कर्त्ता श्री **नेमिचन्द्र** मुनि हैं[1]। इसमे उन्होने जैनदर्शनमे[2] मान्य छह द्रव्योका सकलन तथा

---

१. दव्वसगहमिण .. ... .
. ... णेमिचदमुणिणा भणियं जं ॥
नेमिचन्द्रमुनि, द्रव्यसग्रह गा० ५८ ।

२. भारतीय दर्शनोंमे वैशेषिक और मीमांसक दोनो दर्शन पदार्थ तथा द्रव्य दोनोंको मानते है। पर उनके अभिमत पदार्थ और द्रव्य तथा उनकी सख्या जैन दर्शनके पदार्थो और द्रव्योसे बिलकुल भिन्न है। इसी प्रकार न्यायदर्शनमे स्वीकृत केवल पदार्थ और सांख्यदर्शनसे मान्य केवल तत्त्व और उनकी सख्या भी जैन दर्शनके पदार्थो तथा तत्त्वोंसे सर्वथा अलग है। बौद्धदर्शनके चार आर्यसत्य—दुःख, समुदय, मार्ग और निरोध यद्यपि जैनदर्शनके आस्रव, बन्ध, सवर-निजरा और मोक्ष तत्त्वो-का स्मरण दिलाते है, पर वे भी भिन्न ही है और सख्या भी भिन्न है। वेदान्तदर्शनमे केवल एक आत्मतत्त्व ही ज्ञातव्य और उपादेय है तथा वही एकमात्र अद्वैत है। चार्वाकदर्शनमे पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चार भूततत्त्व है और जिनके समुदायसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती है। चार्वाकदर्शनके ये चार भूततत्त्व भी जैन दर्शनके सात तत्त्वोंसे भिन्न है। इन दर्शनोंके पदार्थों, द्रव्यों और तत्त्वोंका उल्लेख अगले पाद-टिप्पणमें किया गया है, जो अवश्य जानने योग्य हैं।

स्वरूपात्मक कथन किया है। इसके साथ ही पाँच अस्तिकायो, सात तत्त्वो, नौ पदार्थो, दो प्रकारके मोक्षमार्गों, पाँच परमेष्ठियो और ध्यानका भी सक्षेपमे प्रतिपादन किया है। द्रव्योका कथन मुख्य अथवा आरम्भमे होनेसे ग्रन्थका नाम 'द्रव्यसंग्रह' रखा गया है। यह शब्दपरिमाणमे लघु होते हुए भी इतना व्यवस्थित, सरल, विशद और अपनेमे पूर्ण है कि जैनधर्म-सम्बन्धी प्राय सभी मोटी बातोका इसमे वर्णन आ गया है और उनका ज्ञान करानेमे यह पूर्णत सक्षम है।

ध्यान रहे कि एक तत्त्वज्ञानीको नि श्रेयस अथवा सुखकी प्राप्तिके लिए जिनका सम्यक् ज्ञान आवश्यक है उन्हे साख्यदर्शनमे २५ तत्त्वो,[1] न्यायदर्शनमे[2] १६ पदार्थो, वैशेषिकदर्शनमे[3] ६ पदार्थो तथा ९ द्रव्यो, मीमासादर्शनमे[4] भाट्टोके अनुसार ५ पदार्थो और ११ द्रव्यो तथा प्राभा-

---

१. यथा—'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रिय तन्मात्रेभ्य स्थूल-भूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिगण ।'

—कपिल, सांख्यशास्त्र १–६१ ।

२ 'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवाद-जल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां (पदार्थानां) तत्त्व-ज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम ।'

—गौतम अक्षपाद, न्यायसूत्र १–१–१ ।

३ (अ) द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साध-र्म्यवैधर्म्याभ्या तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसम् ।'

—कणाद, वैशेषिकदर्शन १–१–४ ।

(आ) 'पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ।'

—वही १–१–५ ।

४. (अ) 'द्रव्यगुणकर्मसामान्याभावभेदेन पञ्चविध. पदार्थ. ।'

भाट्टमीमांसक, P N. Pattabhirama shastri द्वारा Journal of the benares hindu university में लिखित 'भट्टप्रभा-करयोर्मतभेद' शीर्षक निबन्ध पृ० ३३१ ।

करोके अनुसार ८ पदार्थों और ९ द्रव्यो, बौद्धदर्शनमे[1] ४ आर्यसत्यो एव चार्वाकदर्शनमे ४ भूततत्त्वोके रूपमे स्वीकार किया गया है। परन्तु जैन दर्शनमे छह द्रव्यो, पाँच अस्तिकायो, सात तत्त्वो और नौ पदार्थोके रूपमे उन्हे माना गया है। द्रव्यसग्रहकारने उनके दार्शनिक विवेचनमे न जाकर केवल उनका आगमिक वर्णन किया है, जो प्रस्तुत ग्रन्थमे बडी सरलतासे उपलब्ध है।

(ख) परिचय :

इसमे कुल अण्ठावन (५८) गाथाएँ है, जो प्राकृत-भाषामे रची गई है। यद्यपि इसमे ग्रन्थकारद्वारा किया गया अधिकारोका विभाजन प्रतीत नही होता, तथापि ब्रह्मदेवकी संस्कृत-टीकाके अनुसार इसमे तीन अधिकार और तीनो अधिकारोके अन्तर्गत आठ अन्तराधिकार माने गये है। इनमे विषय-वर्णन इस प्रकार है —

१. पहला अधिकार 'षड्द्रव्य-पञ्चास्तिकाय-प्रतिपादक' नामका है। इसमे तीन अन्तराधिकार है और सत्ताईस गाथाएँ है। प्रथम अन्तराधिकारमे चउदह गाथाओद्वारा जीवद्रव्यका, द्वितीय अन्तराधिकारमे आठ गाथाओद्वारा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँच अजीवद्रव्योका और तीसरे अन्तराधिकारमे पाँच गाथाओद्वारा जीव,

---

१. (आ) 'पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्मशब्दतमासि द्रव्याण्येकादश।'

—भाट्टमीमांसक, वही पृ० ३३१।

(इ) 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यशक्तिसादृश्यसख्यासमवायभेदेनाष्टविध पदार्थः।'

—प्राभाकरमीमांसक, वही पृ० ३३१।

(ई) 'पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनासि नव द्रव्याणि।'

—प्राभाकरमीमांसक, वही पृ० ३३१।

पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच अस्तिकायोंका कथन है। प्रथम अन्तराधिकारकी चउदह गाथाओमे भी पहली गाथाद्वारा मङ्गलाचरण तथा श्रीऋषभजिनेन्द्र-प्रतिपादित जीव और अजीव इन मूल दो-द्रव्योका नाम-निर्देश किया गया है। दूसरी गाथाद्वारा जीवद्रव्यके जीवत्व, उपयोगमयत्व, अमूर्त्तित्व, कर्तृत्व, स्वदेहपरिमितत्व, भोक्तृत्व, ससारित्व, सिद्धत्व और विस्रसा ऊर्ध्वगमन ये नौ अधिकार (वर्णन-प्रकार) गिनाये गये हैं। तीसरी गाथासे लेकर चउदहवी गाथा तक बारह गाथाओद्वारा उक्त अधिकारोके माध्यमसे जीवका स्वरूप वर्णित किया है।

२. दूसरा अधिकार **'सप्ततत्त्व-नवपदार्थप्रतिपादक'** नामका है। इसमे दो अन्तराधिकार है तथा ग्यारह गाथाएँ है। प्रथम अन्तराधिकारमे अट्ठाईसवी गाथासे लेकर सैतीसवी गाथा तक दस गाथाओद्वारा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोका और दूसरे अन्तराधिकारमे अडतीसवी गाथाद्वारा उक्त सात तत्त्वोंमे पुण्य तथा पापको मिलाकर हुए नौ पदार्थोका स्वरूप-कथन है।

३. तीसरा अधिकार **'मोक्षमार्ग-प्रतिपादक'** नामका है। इसमे भी दो अन्तराधिकार है और बीस गाथाएँ है। प्रथम अन्तराधिकारमे उनतालीसवी गाथासे लेकर छियालीसवी गाथा तक आठ गाथाओद्वारा व्यवहार और निश्चय दो प्रकारके मोक्षमार्गोका प्रतिपादन है। यत ये दोनो मोक्षमार्ग ध्यानद्वारा ही योगीको प्राप्त होते हैं, अतः इसी अधिकारके अन्तर्गत दूसरे अन्तराधिकारमे सैतालीसवी गाथासे लेकर सत्तावनवी गाथा तक ग्यारह गाथाओद्वारा ध्यान और ध्येय (ध्यानके आलम्बन) पाँच परमेष्ठियोका भी सक्षेपमे प्ररूपण है। अन्तिम अण्ठावनवी गाथाद्वारा, जो स्वागताछन्दमे है, ग्रन्थकर्त्ताने अपनी लघुता एवं निरहंकारवृत्ति प्रकट की है।

इस तरह मुनि श्री **नेमिचन्द्रने** इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थमे बहुत ही थोडे शब्दो—केवल अण्ठावन (५८) गाथाओद्वारा विपुल अर्थ भरा है।

जान पडता है कि इसीसे यह इतना प्रामाणिक और लोकप्रिय हुआ है कि उत्तरवर्ती लेखकोने उसे सबहुमान अपनाया है। इसके संस्कृत-टीकाकार श्रीब्रह्मदेवने इसकी गाथाओको **'सूत्र'** और इसके कर्त्ताको **'भगवान्'** कह कर उल्लेखित किया है।[1] पण्डितप्रवर **आशाधरजीने अनगारधर्मामृतकी** स्वोपज्ञ टीकामे इसकी गाथाओको उद्धृत करके उनसे अपने वर्ण्य-विषयको प्रमाणित एवं पुष्ट किया है।[2] भाषा-वचनिकाकार पं० **जयचन्दजीने** भी ग्रन्थके महत्त्वको अनुभव करके उसपर सक्षिप्त, किन्तु विशद **भाषावचनिका** लिखी है। प० **जयचन्दजी भाषा-वचनिका** लिखकर ही सन्तुष्ट नही हुए, उसपर **द्रव्यसंग्रह-भाषा** अर्थात् हिन्दी-पद्यानुवाद भी उन्होने लिखा है, जो गाथाके पूरे अर्थको एक-एक चौपाई द्वारा बडे अच्छे ढगमे व्यक्त करता है। यह ग्रन्थ आज भी लोकप्रिय बना हुआ है और उसपर अनेक हिन्दी-व्याख्याएँ उपलब्ध एवं प्रकाशित है। मराठीमे भी इसका कई बार अनुवाद छप चुका है।[3] प्रो० शरच्चन्द्र घोषालके सम्पादकत्वमे आरासे[4] सन् १९१७ मे और जैन समाज पहाडीधीरज दिल्लीसे

---

१. '' भगवान सूत्रमिदं प्रतिपादयति'—संस्कृत-टीका पृष्ठ ४, 'अत्र सूत्रे'—वही पृ० २१, 'सूत्र गतम्'—वही पृ० २३, 'तिष्ठन्तीत्यभिप्रायो भगवतां श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवानामिति'—वही पृ० ५८, 'अत्राह सोमाभिधानो राजश्रेष्ठी। भगवन् ! ···'—वही पृ० ५८; 'भगवानाह'—वही पृ० ५९, 'अत्राह सोमनामराजश्रेष्ठी। भगवन् !····'—वही पृ० १४९, 'भगवानाह'—वही पृ० १४९, 'भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति'—वही पृ० २०६, २२३, 'भगवन्'—वही पृ० २२९, २३१।

२. देखिए, अनगारधर्मामृतटीका पृष्ठ ४, १०९, ११२, ११६, २०४ आदि। पृ० ११८ पर तो 'तथा चोक्त द्रव्यसंग्रहेऽपि' कहकर 'सव्वस्स कम्मणो' आदि गाथा उद्धृत की गई है।

३., ४. पं० जुगलकिशोर मुख्तार, 'द्रव्यसंग्रह-समालोचना', जैन हितैषी, वर्ष १३, अङ्क १२, (सन् १९१८), पृ० ५४१।

सन् १९५६ मे अंग्रेजीमे यह दो बार प्रकाशित हो चुका है। अनेक परीक्षालयोके पाठ्यक्रममे भी यह वर्षोसे निहित है। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत ग्रन्थ कितना महत्त्व रखता है।

(ग) लघु और बृहद् द्रव्यसंग्रह :

श्रीब्रह्मदेवने संस्कृत-टीकाके आरम्भमे लिखा है[1] कि 'श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवने पहले २६ गाथाओंमें 'लघु-द्रव्यसंग्रह' बनाया था, पीछे विशेष तत्त्वज्ञानकेलिए उन्होने इस 'बृहद्-द्रव्यसंग्रह'की रचना की थी।' ब्रह्मदेवके इस कथनसे जान पडता है कि ग्रन्थकारने द्रव्यसंग्रह लघु और बृहद् दोनो रूपमे रचा था—पहले लघुद्रव्यसंग्रह और पीछे कुछ विशेष कथनके लिए बृहद्द्रव्यसंग्रह। आश्चर्य नही कि उन्होने इस प्रकारकी दो कृतियोकी रचना की हो। जैन साहित्यमे हमे इस प्रकार के प्रयत्न और भी मिलते है। मुनि अनन्तकीर्तिने पहले लघुसर्वज्ञसिद्धि और बादको बृहत्सर्वज्ञसिद्धि बनाई थी। उनकी ये दोनो कृतियाँ उपलब्ध एवं प्रकाशित है।

कुछ विद्वानोका खयाल है कि लघुद्रव्यसंग्रहमे कुछ गाथाएँ बढाकर उसे ही बृहद्द्रव्यसंग्रह नाम दे दिया गया है। परन्तु अनुसधानसे ऐसी बात मालूम नही होती· क्योकि न तो संस्कृत-टीकाकारके उक्त कथनपरसे प्रकट होता है[2] और न दोनो ग्रन्थोके अन्त परीक्षणसे ही प्रतीत होता है। बृहद्द्रव्यसंग्रहको लघुद्रव्यसंग्रहका बृहद्रूप माननेपर उपलब्ध बृहद्द्रव्यसंग्रहमे लघुद्रव्यसंग्रहकी सभी गाथाएँ पायी जानी चाहिए थी। परन्तु ऐसा नही है। धर्म, अधर्म और आकाश

१, २ '...श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसंग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते।'
—सं० टी० पृ० ४।

द्रव्योकी लक्षणपरक तीन गाथाओ नं० ८, ९, १० और काललक्षण-प्रतिपादिका गाथा नं० ११ के पूर्वार्ध तथा गाथा न० १२ व १४ को, जो **बृहद्द्रव्यसग्रहमें** क्रमशः नं० १७, १८, १९, २१ (पूर्वार्ध), २२ और २७ पर पायी जाती है, छोडकर इसकी शेष सब (१९½) गाथाएँ **बृहद्द्रव्यसंग्रहसे** भिन्न हैं। इससे प्रकट है कि **लघुद्रव्यसग्रहमें** कुछ गाथाओकी वृद्धि करके उसे ही बृहद् रूप नही दिया गया है, अपितु दोनोको स्वतत्र रूपसे रचा गया है और इसीसे दोनोके मङ्गल-पद्य[1] तथा उपसहारात्मक अन्तिम पद्य[2] भी भिन्न-भिन्न है।

यहाँ ध्यातव्य है कि **लघुद्रव्यसग्रह**मे उसका नाम **'द्रव्यसंग्रह'** नही दिया, किन्तु **'पयत्थ-लक्खण-कराओ गाहाओ'** पदोके द्वारा उसे **'पदार्थलक्षणकारिणी गाथाएँ'** कहा है, जब कि **बृहद्द्रव्यसग्रह-**मे **'दव्वसंगहमिण'** पदके द्वारा उसका नाम स्पष्टरूपसे **'द्रव्यसंग्रह'** दिया है और इससे मालूम होता है कि **'द्रव्यसंग्रह'** नामकी कल्पना ग्रन्थकारको अपनी पूर्व रचनाके बाद इस **द्रव्यसंग्रह**को रचते समय उत्पन्न हुई है और इसके रचे जाने तथा उसे **'द्रव्यसग्रह'** नाम दे देनेके उपरान्त **'पदार्थलक्षणकारिणी गाथाओं'**को भी ग्रन्थकार अथवा

---

१ जीवमजीव दव्व जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठ ।
देविंदविंदवद वदे तं सव्वदा सिरसा ॥१॥
—मगल-पद्य, बृहद्द्रव्यस० ।

छद्दव्व पच अत्थी सत्त वि तच्चाणि णवपयत्था य ।
भगुप्पाय-धुवत्ता णिद्दिट्ठा जेण सो जिणो जयउ ॥१॥
—मगल-पद्य, लघुद्रव्यसं० ।

२ दव्वसगहमिणं मुणिणाहा दोससचयचुदा सुदपुण्णा ।
सोधयतु तणुसुत्तधरेण णेमिचदमुणिणा भणियं जं ॥५८॥
—उपसंहा० पद्य, बृहद्द्रव्यसं० ।

दूसरोके द्वारा **'लघुद्रव्यसंग्रह'** नाम दिया गया है और तब यह ५८ गाथाओवाली कृति—द्रव्यसंग्रह बृहद्विशेषणके साथ सुतरा **'बृहद्-द्रव्यसंग्रह'** के नामसे व्यवहृत एव प्रसिद्ध हुई जान पडती है। अतएव **'लघुद्रव्यसंग्रह'** के अन्तमे पाये जानेवाले पुष्पिकावाक्यमे उसके **'लघु-द्रव्यसंग्रह'** नामका उल्लेख मिलता है[1]।

यहाँ एक प्रश्न यह उठ सकता है कि उपलब्ध **'लघुद्रव्यसंग्रह'** मे २५ ही गाथाएँ पायी जाती है, जबकि सस्कृत-टीकाकार उसे २६ गाथा-प्रमाण बतलाते है। अतः वास्तविकता क्या है? इस सम्बन्धमें श्रद्धेय पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारने ऊहापोहके साथ सम्भावना की है[2] कि 'होसकता है, एक गाथा इस ग्रन्थ-प्रतिमे छूट गई हो, और सम्भवतः १० वी-११ वी गाथाओके मध्यकी वह गाथा जान पडती है जो **'बृहद्द्रव्यसग्रह'** मे **'धम्माधम्मा कालो'** इत्यादि रूपसे न. २० पर दी गई है और जिसमे लोकाकाश तथा अलोकाकाशका स्वरूप वर्णित है।' इसमे युक्तिके रूपमे उन्होने कुछ आवश्यक गाथाओका दोनोमे पाया जाना बतलाया है। नि.सन्देह मुख्तार साहबकी सम्भावना और युक्ति दोनो बुद्धिको लगते है। यथार्थमे **लघुद्रव्यसंग्रह**मे जहाँ धर्म, अधर्म, आकाश आदिकी लक्षणपरक गाथाएँ दी हुई है वहाँ लोकाकाश तथा अलोकाकाशके स्वरूपकी प्रति-पादिका कोई गाथा न होना खटकता है। स्मरण रहे कि **बृहद्द्रव्यसंग्रह**मे १७, १८, १९, २१, और २२ न. पर लगातार पायी जाने वाली ये

सोमच्छलेण रइया पयत्थ-लक्खणकराउ गाहाओ।
भव्वुवयार-णिमित्त गणिणा सिरिणेमिचदेण ॥ २५ ॥
—उपसहारात्मकपद्य, लघुद्रव्यसं०।

१. इति श्रीनेमिचन्द्रसूरिकृत लघुद्रव्यसंग्रहमिदं पूर्णम्।
—अन्तिम पुष्पिकावाक्य, लघुद्रव्यसं०।

२ अनेकान्त वर्ष १२, किरण ५, पृ १४९।

पाँचो गाथाएँ तो **लघुद्रव्यसग्रह**मे ८, ६, १०, ११ और १२ नं. पर स्थित है, पर **बृहद्‌द्रव्यसंग्रह**को १६ और २१ वी गाथाओके मध्यकी २० न. वाली गाथा **लघुद्रव्यसग्रह**मे नही है, जिसका भी वहाँ होना आवश्यक था। अत: **बृहद्‌द्रव्यसग्रह**मे २० न पर पायी जाने वाली उक्त गाथा **लघुद्रव्यसंग्रह**की उपलब्ध ग्रन्थ-प्रतिमे छूटी हुई मानना चाहिए। सम्भव है किसी अन्य ग्रन्थ-प्रतिमे वह मिल जाय। उपलब्ध २५ गाथा-प्रमाण यह '**लघुद्रव्यसग्रह**' अपने सक्षिप्त अर्थके साथ इसीमे अन्यत्र मुद्रित है।

(घ) अध्यात्मशास्त्र :

वस्तुके—मुख्यतया जीवके—शुद्ध और अशुद्ध स्वरूपोका निश्चय और व्यवहार अथवा शुद्ध और अशुद्ध नयोसे कथन करनेवाला अध्यात्मशास्त्र है। जो नय शुद्धताका प्रकाशक है वह निश्चय नय अथवा शुद्ध नय है[1]। और जो अशुद्धताका द्योतक है वह व्यवहार नय अथवा अशुद्ध नय है। द्रव्यसग्रहमे इन दोनो नयोमे जीवके शुद्ध और अशुद्ध स्वरूपोका वर्णन किया गया है। ग्रन्थकर्त्ताने स्पष्टतया न. ३, ६, ७, ८, ६, १०, १३, ३० और ४५ वी गाथाओमे '**णिच्छयदो**', '**ववहारा**', **सुद्धणया**', **असुद्ध-णया**' जैसे पद-प्रयोगो द्वारा निश्चय और व्यवहार अथवा शुद्ध और अशुद्ध नयोसे जीवके शुद्ध और अशुद्ध स्वरूपोको बताया है। इसके अतिरिक्त

---

१. 'शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः। अशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनय। उभावप्येतौ स्त:, शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात्। किन्त्वत्र निश्चयनय साधकतमत्वादुपात्त:। साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वान्निश्चयनय एव साधकतमो न पुनरशुद्धत्वद्योतको व्यवहारनय।'

—अमृतचन्द्र, प्रवच०, ज्ञेया. गा. ९७।

संस्कृत-टीकाकार श्रीब्रह्मदेवने इसे 'अध्यात्मशास्त्र' स्पष्ट कहा है[1] और अपनी यह टीका भी उसी अध्यात्मपद्धतिसे लिखी है। अत. द्रव्यसंग्रह द्रव्यानुयोगका[2] शास्त्र होते हुए भी अध्यात्म-ग्रन्थ है।

(ङ) संस्कृत-टीका :

इसपर एकमात्र[3] श्रीब्रह्मदेवकी सस्कृत-टीका उपलब्ध है और जो चार बार प्रकाशित हो चुकी है। दो बार रायचन्द्रशास्त्रमाला बम्बईसे, तीसरी बार पहाडीधीरज दिल्लीसे और चौथी बार खरखरी (धनवाद) से। यह मध्यम-परिमाणकी है, न अतिविस्तृत है और न अतिलघु।

---

१ 'अत्राध्यात्मशास्त्रे यद्यपि सिद्धपरमेष्ठिनमस्कार उचितस्तथापि व्यवहारनयमाश्रित्य प्रत्युपकारस्मरणार्थमर्हत्परमेष्ठिनमस्कारं एव कृत ।'—ब्रह्मदेव, बृ.स. टी. पृ ६।

२. द्रव्यानुयोग श्रुत (आगम) के चार अनुयोगों—स्तम्भों (प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग) मेंसे अन्यतम हैं। यह जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन तत्त्वोंका प्रकाशन करता है। देखिए, रत्नकरण्डकश्रा० श्लोक ४६।

३. प० नाथूरामजी प्रेमीने 'जैन साहित्य और इतिहास' (पृ० २०) मे प्रभाचन्द्रकृत एक 'द्रव्यसग्रहपञ्जिका' का उल्लेख किया है, पर वह उपलब्ध न होनेसे उसके बारेमे कुछ कहा नही जा सकता। प्रेमीजीने भी नामोल्लेखके सिवाय उसपर कोई प्रकाश नही डाला और न अपने उल्लेखका कोई आधार बताया है। इससे मालूम पड़ता है कि यह रचना या तो लुप्त होगई और या किसी शास्त्रभण्डारमे अज्ञात दशामें पड़ी हुई है। यदि लुप्त नही हुई तो अन्वेषकोंको उसकी अवश्य खोज करना चाहिए।

टीकाकारने प्रत्येक गाथाके पदोका मर्मोद्घाटन बडी विशदतासे किया है। साथ ही दूसरे ग्रन्थोके प्रचुर उद्धरण भी दिये है। ये उद्धरण आचार्य कुन्दकुद, गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलङ्क, वीरसेन, जिनसेन विद्यानन्द, गुणभद्र, नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती, शुभचन्द्र, योगीन्दुदेव और वसुनन्दिसिद्धान्तिदेव आदि कितने ही ग्रन्थकारोके ग्रन्थोसे दिये गये है, जिनसे टीकाकारकी बहुश्रुतता और स्वाध्यायशीलता प्रकट होती है। गुणस्थानो और मार्गणाओका विशद प्रतिपादन, सम्बद्ध कथाओका प्रदर्शन, तत्त्वोका सरल निरूपण और लोकभावनाके प्रकरणमे ऊर्ध्व, मध्य और अधो लोकका कथन करते हुए बीस विदेहोका विस्तृत वर्णन उनके चारों अनुयोगोके पाण्डित्यको सूचित करता है। गाथा न० ३५ का उन्होने जो ५० पृष्ठोमे विस्तृत व्याख्यान किया है वह कम आश्चर्यजनक नही है। टीकाकी विशेषता यह है कि इसकी भाषा सरल और प्रसादयुक्त है तथा सर्वत्र आध्यात्मिक पद्धति अपनायी गई है। अपनी इस व्याख्याको ब्रह्मदेवने **'वृत्ति'** नाम दिया है[1] और उसे तीन अधिकारो तथा आठ अन्तराधिकारोमे विभाजित किया है।

(च) सस्कृत-टीकामे उल्लिखत अनुपलब्ध ग्रन्थ :

इस टीकामे कुछ ऐसे ग्रन्थोके भी उद्धरण दिये गये है, जो आज उपलब्ध नही है और जिनके नाम मात्र सुने जाते है। उनमे एक तो 'आचाराधनाटिप्पण' है[2], जो या तो श्रीचन्द्रका होना चाहिए और या

---

१. ' ······बृहद्द्रव्यसंग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्ति. प्रारभ्यते।'–बृहद्द्रव्य० स० टी० पृ० २।

२ ' · ·आचाराधनाटिप्पणे कथितमास्ते।'

—स० टी० पृ० १०६।

जयनन्दिका[1]। दूसरा ग्रन्थ है गन्धर्वाराधना[2]। मालूम नही, यह ग्रन्थ कब और किसके द्वारा रचा गया। सम्भव है भगवतीआराधनाको ही गन्धर्वाराधना कहा गया हो। परन्तु जो उद्धरण दिया गया है वह उसमे नही है।

(छ) महत्त्वपूर्ण शङ्का-समाधान :

इसमे कई शङ्का-समाधान बडे महत्त्वके है। एक जगह शङ्का की गई है[3] कि सम्यग्दृष्टि जीवके पुण्य और पाप दोनो ही हेय है, फिर वह

---

१. प० नाथूरामजी प्रेमी, 'जैन साहित्य और इतिहास' पृ० ८६।

२ '.... तर्हि "तुसमास घोसंतो शिवभूदी केवली जादो' इत्यादि गन्धर्वाराधनादिर्भणित व्याख्यानं कथ घटते।'

—सं० टी० पृ० २३३।

३. 'सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम्। कथ पुण्य करोतीति ? तत्र युक्तिमाह—यथा कोऽपि देशान्तरस्थमनोहरस्त्रीसमीपादागतपुरुषाणां तदर्थं दानसन्मानादिकं करोति तथा सम्यग्दृष्टिरप्युपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति। चारित्रमोहोदयात्तत्राममर्थ सन् निर्दोषपरमात्मस्वरूपाणामर्हत्सिद्धानां तदाराधकाचार्योपाध्यायसाधूना च परमात्मपदप्राप्त्यर्थं विषयकषायवर्जनार्थं च दानपूजादिना गुणस्तवनादिना वा परमभक्ति करोति। तेन भोगाकाङ्क्षादिनिदानरहितपरिणामेन कुटुम्बिनां पलालमिव अनीहितवृत्त्या विशिष्टपुण्यमास्रवति, तेन च स्वर्गे देवेन्द्रलौकान्तिकादिविभूति प्राप्य विमानपरिवारादिसम्पदं जीर्ण-तृणमिव गणयन् पञ्चमहाविदेहेषु गत्वा पश्यति। किं पश्यतीति चेत्—तदिद समवसरणं ते एते वीतरागसर्वज्ञा ते एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधका गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयन्ते त इदानीं प्रत्यक्षेण दृष्टा इति मत्वा विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा चतुर्थगुणस्थानयोग्यामात्मनोऽविरतावस्थामपरित्यजन् भोगानुभवेऽपि सति धर्मध्यानेन कालं

पुण्य कैसे करता है ? इसका समाधान करते हुए ब्रह्मदेव लिखते हैं कि 'जैसे कोई व्यक्ति किसी दूसरे देशमें स्थित मनोहर स्त्रीके पाससे आये पुरुषोंका उस स्त्रीकी प्राप्तिके लिए दान (भेट), सम्मान आदि करता है, उसी तरह सम्यग्दृष्टि जीव भी उपादेयरूपसे अपने शुद्ध आत्माकी ही भावना करता है, परन्तु चारित्रमोहके उदयसे उस निज-शुद्ध-आत्म-भावनामें असमर्थ होता हुआ निर्दोष परमात्मस्वरूप अर्हन्त और सिद्धों तथा उनके आराधक आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओंकी परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए और विषय-कषायोंको दूर करनेके लिए दान, पूजा आदिसे अथवा गुण-स्तुति आदिसे परम भक्ति करता है। इससे उस सम्यग्दृष्टि जीवके भोगोंकी आकांक्षा आदि निदानरहित परिणाम उत्पन्न होता है। उससे उसके बिना चाहे विशिष्ट पुण्यका आस्रव उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कुटुम्बियों (कृषकों) को बिना चाहे पलाल मिल जाता है। उस पुण्यमें वह स्वर्गमें इन्द्र, लौकान्तिक देव आदिकी विभूति पाकर वहाँकी विमान, परिवार आदि सम्पदाको जीर्ण तृणके समान मानता हुआ पाँच महाविदेहोंमें पहुँच कर देखता है कि 'यह वह समवसरण है, ये वे वीतराग सर्वज्ञदेव हैं, और ये वे भेदाभेदरत्नत्रयके आराधक गणधरदेवादिक हैं, जिनके विषयमें हम पहले सुना करते थे। उन्हें इस समय प्रत्यक्ष देख लिया' ऐसा मानकर धर्ममें बुद्धिको विशेष दृढ़ करके चौथे गुणस्थानके योग्य अपनी अविरत अवस्थाको न छोड़ता हुआ भोगोंका अनुभव होनेपर भी धर्मध्यानपूर्वक समय यापनकर स्वर्गसे आकर तीर्थंकरादि पदोंके मिलने पर भी पूर्व भवमें भावना किये विशिष्ट भेदज्ञानकी वासनाके बलसे मोह नहीं

नीत्वा स्वर्गादागत्य तीर्थकरादिपदं प्राप्तेऽपि पूर्वभवभावितविशिष्ट-भेदज्ञानवासनाबलेन मोहं न करोति। ततो जिनदीक्षां गृहीत्वा ·· ·· मोक्षं गच्छति। मिथ्यादृष्टिस्तु ·· ·।'

—सं० टी० पृ० १५९-१६०।

करता है। इसके पश्चात् जिनदीक्षा लेकर पुण्य-पापरहित निज परमात्माका ध्यान करके मोक्षको प्राप्त करता है। पर मिथ्यादृष्टि तीव्र निदान-जनित पुण्यसे भोगोको पाकर, अर्धचक्रीरावणादिकी तरह, पीछे नरकको जाता है।'

इस शङ्का-समाधानसे सम्यग्दृष्टिकी दृष्टिसे पुण्य-पापकी हेयतापर अच्छा प्रकाश पडता है। इसी तरह इस टीकामे ब्रह्मदेवने और भी कई शङ्का-समाधान प्रस्तुत किये है, जो टीकासे ही ज्ञातव्य हैं।

(ज) अन्य टीकाएँ :

उक्त सस्कृत-टीकाके अतिरिक्त अन्य भाषाओमे भी इसके रूपान्तर हुए हैं। मराठीमे यह गाधी नेमचन्द बालचन्द द्वारा कई बार छप चुका है। अग्रेजीमे भी इसके दो सस्करण क्रमश सन् १९१७ और १९५६ मे निकले है और दोनोके रूपान्तरकार एव सम्पादक प्रो० घाषाल है। हिन्दीमे तो इसकी कई विद्वानोद्वारा अनेक व्याख्याएँ लिखी गई है और वे सब प्रकाशित हो चुकी है। इनमे बा० सूरजभानजी वकील, प० हीरालालजी शास्त्री, प० मोहनलालजी शास्त्री और प० भुवनेन्द्रजी 'विश्व' की टीकाएँ उल्लेखनीय है।

(झ) द्रव्यसग्रह-वचनिका :

ब्रह्मदेवकी संस्कृत-टीकाके बाद और उक्त अन्य टीकाओसे पूर्व पण्डित जयचन्दजी छाबडाने इसपर देशभाषामय (ढूढारी-राजस्थानीमे) प्रस्तुत वचनिका लिखी है। यह वचनिका वि० स० १८६३ (सन् १८०६) मे रची गयी है[1], जो लगभग १६० वर्ष प्राचीन है और अब पहली बार

१ सवत्सर विक्रमतणूं, अठदश-शत त्रयसाठ।
श्रावणवदि चोदशि दिवस, पूरण भयो सुपाठ ॥५॥
—प्रस्तुत वचनिका, ३रा अधिकार, पृ० ७४।

प्रकाशमे आरही हैं। इसमे गाथाओका सक्षिप्त अर्थ व उनका भावार्थ दिया गया है। भाषा परिमार्जित, प्रसादपूर्ण और सरल है। स्वाध्याय-प्रेमियोके लिए यह बडो उपयोगी है। प० जयचन्दजीने अपनी इस वचनिकाका आधार प्राय. ब्रह्मदेवकी सस्कृत-टीकाको बनाया है। तथा उसीके आधारसे अनेक शङ्का-समाधान भी दिये है। वचनिकाके अन्तमे उन्होने स्वयं लिखा है कि **'याका विशेष व्याख्यान याकी टीका, ब्रह्मदेव आचार्यकृत है, तातैं जानना।'** इसमे कई चर्चाएँ बडे महत्त्वकी है और नयी जानकारी देती हैं।

(ञ) द्रव्यसंग्रह-भाषा :

उक्त वचनिकाके बाद पं० जयचन्दजीने द्रव्यसग्रहका चौपाई-बद्ध पद्यानुवाद भी रचा है, जिसे उन्होंने **'द्रव्यसग्रह-भाषा'** नाम दिया है[1]। एक गाथाको एक ही चौपाईमे बडे सुन्दर ढग एव कुशलतासे अनूदित किया गया है और इस तरह ५८ गाथाओंकी ५८ चौपाइयाँ, आदिमे एक और अन्तमे दो इस प्रकार ३ दोहे, सब मिलाकर कुल ६१ छन्दोमे यह **'द्रव्यसग्रह-भाषा'** समाप्त हुई है। आरम्भके दोहामे मङ्गल और छन्दोंके माध्यमसे द्रव्यसग्रहको कहनेकी प्रतिज्ञा की है[2]। तथा अन्तके दो दोहोमे प्रथम (न ६०) के द्वारा अपनी लघुताको मुनि नेमिचन्द्रकी लघुतासे अधिक प्रकट किया है[3]। दूसरे दोहेके द्वारा अन्तिम मङ्गल किया है[4]। इस तरह प० जयचन्दजीकी यह रचना भी बडी उपयोगी और

१. द्रव्यसग्रहभाषाका आदि और अन्तभाग पृ ७५ व ८०।

२. देव जिनेश्वर वंदि करि, वाणी सुगुरु मनाय।
 करूं द्रव्यसग्रहतणी, भाषा छंद बणाय॥ १॥
 —प्रस्तुत वचनिका पृ. ८०।

३ 'द्रव्यसग्रह-भाषा' पद्य न. ६०, वचनिका पृ. ८०।

४ वही, पद्य नं ६१ पृ. ८०।

महत्त्वकी है। बालक-बालिकाओंको वह अनायास कण्ठस्थ कराई जा सकती है।

२. ग्रन्थकार :

(क) ग्रन्थकर्त्ताका परिचय :

इसके कर्त्ता मुनि नेमिचन्द्र हैं। जैसा कि ग्रन्थकी अन्तिम (५८ वी) गाथासे प्रकट है। सस्कृत-टीकाकार श्रीब्रह्मदेव भी इसे मुनि नेमिचन्द्रकी ही कृति बतलाते हैं। अब केवल प्रश्न यह है कि ये मुनि नेमिचन्द्र कौन-से नेमिचन्द्र है और कब हुए है तथा उनकी रची हुई कौन-सी कृतियाँ है, क्योकि जैन परम्परामे नेमिचन्द्र नामके अनेक विद्वान् हो गये है? इसी सम्बन्धमे यहाँ विचार किया जाता है।

(ख) नेमिचन्द्र नामके अनेक विद्वान् :

१. एक नेमिचन्द्र तो वे है, जिन्होंने गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार-क्षपणासार जैसे मूर्द्धन्य सिद्धान्त-ग्रन्थोका प्रणयन किया है और जो 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' की उपाधिसे विभूषित थे[1] तथा गगवंशी राजा राचमल्लके प्रधान सेनापति चामुण्डराय (शक सं० ६००, वि० सं० १०३५) के गुरु भी थे[2]। इनका अस्तित्वसमय वि० स० १०३५ है।

२. दूसरे नेमिचन्द्र वे है, जिनका उल्लेख वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवने अपने उपासकाध्ययन (गा० ५४३)मे किया है और जिन्हे 'जिनागमरूप

---

१ 'जह चक्केण य चक्की छक्खड साहियं अविग्घेण।
तह मइ-चक्केण मया छक्खड साहियं सम्मं ॥
—कर्मका० गा० ३९७।

२. चामुण्डरायने इन्हीकी प्रेरणासे श्रवणवेलगोला (मैसूर) में ५७ फुट उत्तुंग, विशाल एवं ससार-प्रसिद्ध श्रीबाहुबली स्वामीकी मूर्तिका निर्माण कराया था।

समुद्रकी वेला-तरङ्गोसे धुले हृदयवाला' तथा 'सम्पूर्ण जगतमे विख्यात' लिखा है[1]। साथ ही उन्हे नयनन्दिका शिष्य और अपना गुरु भी बताया है[2]।

३ तीसरे नेमिचन्द्र वे है, जिन्होने प्रथम नम्बरपर उल्लिखित नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गोम्मटसार (जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड दोनो) पर **'जीवतत्त्वप्रदीपिका'** नामको संस्कृत-टीका, जो अभयचन्द्रकी **'मन्दप्रबोधिका'** और केशववर्णीकी सस्कृत-मिश्रित कनडी टीका **'जीवतत्त्वप्रदीपिका'** इन दोनो टीकाओके आधारसे रची गई है, लिखी है।

४. चौथे नेमिचन्द्र प्रस्तुत द्रव्यसंग्रहके कर्त्ता नेमिचन्द्र है।

इन चार नेमिचन्द्रोके सिवाय, सम्भव है, और भी नेमिचन्द्र हुए हो। पर अभीतक हमे इन चारका ही पता चला है।

अब विचारणीय है कि ये चारो नेमिचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं अथवा भिन्न-भिन्न ?

(१) जहाँ तक प्रथम और तृतीय नेमिचन्द्रकी बात है, ये दोनो एक व्यक्ति नही है। प्रथम नेमिचन्द्र तो मूल ग्रन्थकार है और तीसरे नेमिचन्द्र उनके टीकाकार है। तथा प्रथम नेमिचन्द्रका समय विक्रमकी ११ वी शताब्दी है[3] और तीसरे नेमिचन्द्रका ईसाकी १६ वी

---

१ सिस्सो तस्स जिणागम-जलणिहि-वेलातरंग-धोयमणो ॥
संजाओ सयल-जए विक्खाओ णेमिचंदु त्ति ॥५४३॥

२ तस्स पसाएण मए आइरिय परंपरागयं सत्थं।
वच्छल्लयाए रइयं भवियाणमुवासयज्झयणं ॥५४४॥

३. डा० ए० एन० उपाध्ये, अनेकान्त वर्ष ४, किरण १, पृ० ११३-१२०। तथा प० जुगलकिशोर मुख्तार, पुरातन जैन वाक्य-सूची-की प्रस्तावना पृ० ८९।

शताब्दी है[1]। अत. इन दोनो नेमिचन्द्रोके पौर्वापर्यमे प्राय: ५०० वर्षका अन्तर होनेसे वे दोनो एक नही है।

(२) प्रथम तथा द्वितीय नेमिचन्द्र भी एक नही है। प्रथम नेमिचन्द्र जहाँ विक्रमको ११ वी शताब्दी (वि० स० १०३५) मे हुए है[2] वहाँ द्वितीय नेमिचन्द्र उनसे लगभग १०० वर्ष पीछे—१२ वी शताब्दी (वि० सं० ११२५) के विद्वान् है; क्योकि द्वितीय नेमिचन्द्र वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवके गुरु थे और वसुनन्दिका समय १२वी शताब्दी (वि० स० ११५०) है[3]। इसके अलावा, प्रथम नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ती कहे जाते है और दूसरे नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव।

(३) प्रथम और चतुर्थ नेमिचन्द्र भी भिन्न है। चतुर्थ नेमिचन्द्र जहाँ अपनेको 'तनुसूत्रधर' (अल्पज्ञ) कहते है[4] वहाँ प्रथम नेमिचन्द्र चक्रवर्तीकी तरह सिद्धान्तके छह खण्डोका विजेता—'सिद्धान्तचक्रवर्ती' अपनेको प्रकट करते है[5]। सस्कृतटीकाकार ब्रह्मदेवने भी अपनी टीकामे द्रव्यसंग्रहकार चौथे नेमिचन्द्रको जगह-जगह 'सिद्धान्तिदेव' ही लिखा है[6], सिद्धान्तचक्रवर्ती नही। अपि च, प्रथम नेमिचन्द्र अपने गुरुओका उल्लेख करते हुए पाये जाते है[7], पर चौथे नेमिचन्द्र ऐसा कुछ नही करते—मात्र अपना ही नाम देते देखे जाते है[8]। इसके अतिरिक्त दोनोमे मान्यताभेद भी है। प्रथम

१. अनेकान्त वर्ष ४, किरण १।

२. वही।

३. पुरातन जैन वाक्यसूचीकी प्रस्तावना पृ० १००।

४ द्रव्यसग्रह गाथा ५८।

५ गोम्मटसार-कर्मकाण्ड गा० ३९७।

६ द्रव्यसंग्रह-सस्कृतटीका पृ० २, ५, ५८ आदि।

७. कर्मकाण्ड गाथा ४३६, ७८५, त्रिलोकसार गा० १०१८, लब्धि-सार गा० ४४८।

८. बृ० द्रव्यसंग्रह गा० ५८, लघुद्रव्यसं० गा० २५।

नेमिचन्द्रने भावास्रवके जो भेद (५७) गिनाये हैं[1] वे द्रव्यसंग्रहकार-द्वारा प्रतिपादित भावास्रवके भेदो (३२) से भिन्न हैं[2]। इसके अलावा, प्रथम नेमिचन्द्र दक्षिण भारतके निवासी हैं और चतुर्थ नेमिचन्द्र उत्तर भारत (मालवा) के विद्वान् हैं। इन सब बातोसे प्रथम नेमिचन्द्र और चतुर्थ नेमिचन्द्र एक व्यक्ति नही है—वे दोनो एक दूसरेसे पृथक् एव स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं।

(४) द्वितीय और तृतीय नेमिचन्द्र भी अभिन्न नही हैं, द्वितीय नेमिचन्द्र १२ वी शताब्दीके विद्वान् हैं और तृतीय नेमिचन्द्र १६ वी शतीमे हुए हैं और इस लिए इनमे लगभग चारसौ वर्षका पौर्वापर्य है।

(५) तृतीय और चतुर्थ नेमिचन्द्र भी एक नही है। १३ वी शताब्दी (वि.स १३००) के ग्रन्थकार प आशाधरजीने चौथे नेमिचन्द्रके द्रव्यसंग्रहके नामोल्लेखपूर्वक तथा बिना नामोल्लेखके उसकी अनेक गाथाओको अनगारधर्मामृतकी स्वोपज्ञ टीकामे[3] उद्धृत किया है। अत चौथे नेमिचन्द्र स्पष्टतया प आशाधरजीके पूर्ववर्ती अर्थात् १३ वी शताब्दीसे पहलेके हैं, जब कि तृतीय नेमिचन्द्र उनके उत्तरकालीन अर्थात् १६ वी शतीमे हुए हैं।

(ग) द्रव्यसग्रहके कर्त्ता नेमिचन्द्र :

अब रह जाते हैं दूसरे और चौथे नेमिचन्द्र। सो ये दोनो विद्वान् निम्न आधारोसे एक व्यक्ति ज्ञात होते हैं।

---

१. मिच्छत्त अविरणं कसाय-जोगा य आसवा होति।
पण वारस पणवीस पण्णरसा होति तब्भेया॥
—गोम्म० कर्म० गा० ७८६।

२. मिच्छत्ताविरदि-पमाद-जोग-कोहादओऽथ विण्णेया।
पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स॥
—द्रव्यस गा० ३०।

३. टीका पृ० ४, १०९, ११२, ११६, २०४।

१ प. आशाधरजी (वि. स १३००) ने वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवका सागारधर्मामृत तथा अनगारधर्मामृत दोनोकी टीकाओमे उल्लेख किया है[1] और वसुनन्दिने द्वितीय नेमिचन्द्रका अपने गुरुरूपसे स्मरण किया है[2] तथा उन्हे श्रीनन्दिका प्रशिष्य एव नयनन्दिका शिष्य बतलाया है[3]। ये नयनन्दि यदि वे ही नयनन्दि है, जिन्होने 'सुदंसणचरिउ' की रचना की है और जिसे उन्होने धारामे रहते हुए राजा भोजदेवके कालमे वि० सं० ११०० मे पूर्ण किया है[4], तो द्वितीय नेमिचन्द्र नयनन्दिसे कुछ ही उत्तरवर्ती और वसुनन्दिसे कुछ पूर्ववर्ती अर्थात् वि० स० ११२५ के करीबके विद्वान् ठहरते है। उधर चौथे नेमिचन्द्र (द्रव्यसग्रहकार) का भी समय प० आशाधरजी-के ग्रन्थोमे उनका उल्लेख होने तथा ब्रह्मदेव द्वारा उनके द्रव्यसग्रहकी टीका लिखी जानेसे उनस पूर्ववर्ती अर्थात् वि० स० की १२ वी शताब्दी सिद्ध होता है। इस लिए बहुत सम्भव है कि ये दोनो नेमिचन्द्र एक हो।

२ वसुनन्दिने अपने गुरु नेमिचन्द्रको 'समस्त जगतमे विख्यात' बतलाया है। उधर 'सुदसणचरिउ' के कर्त्ता नयनन्दि भी अपनेको 'जगत-विख्यात' प्रकट करते है[5]। इसमे ध्वनित होता है कि वसुनन्दि-

---

१ सा० ध. टी ४-५२, अनगा० ध. टी. ५-६६, ८-३७ और ८-८८।

२ वसुनन्दिश्रावका० गा० ५४३, ५४४।

३ वही, गा० ५४०, ५४२।

४ णिव-विक्कम-कालहो ववगएसु। एयारह - संवच्छर - सएसु॥
तहिं केवलि-चरिउ अमयच्छरेण। णयणदी विरयउ वित्थरेण॥
—सुदंसणचरिउ अन्तिम प्रशस्ति।

५. पढम-सीसु तहो जायउ जगविक्खायउ मुणि णयणंदो।
चरिउ सुदसणणाहहो तेण अवाहहो विरइउ···।
—सुदसणचरिउ, अन्तिमप्रश० ४।

को अपने द्वारा नेमिचन्द्रके गुरुरूपसे उल्लिखित नयनन्दि वे ही नयनन्दि अभिप्रेत है जो 'सुदंसणचरिउ' के कर्त्ता है और उन्हीके जगत-विख्यात जैसे गुणोको वे उनके शिष्य और अपने गुरु (नेमिचन्द्र) में भी देख रहे है। इससे जान पडता है कि वसुनन्दिके उल्लिखित नयनन्दि और 'सुदंसणचरिउ' के कर्त्ता नयनन्दि अभिन्न है तथा उन्हीके शिष्य नेमिचन्द्रका वसुनन्दिने अपने गुरुरूपसे स्मरण किया है और ये नेमिचन्द्र वे ही नेमिचन्द्र हो, जो द्रव्यसंग्रहके कर्त्ता है, तो कोई आश्चर्य नही है।

३ द्रव्यसग्रहके मस्कृत-टीकाकार ब्रह्मदेवने द्रव्यसग्रहकार नेमिचन्द्रको 'सिद्धान्तिदेव' उपाधिके माथ अपनी मस्कृत-टीकाके मध्यमे तथा अधिकारोके अन्तिम पुष्पिका-वाक्योमे उल्लेखित किया है[1]। उधर वसुनन्दि और उनके गुरु नेमिचन्द्र भी 'सिद्धान्तिदेव' की उपाधिसे भूषित मिलते है[2]। अत: असम्भव नही कि ब्रह्मदेवके अभिप्रेत नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव और वसुनन्दिके गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव एक हो।

४. ब्रह्मदेवने द्रव्यसंग्रहके प्रथम अधिकारके अन्तमे और द्वितीय अधिकारसे पहले वसुनन्दि-श्रावकाचारकी दो गाथाएँ न० २३ और न० २४ उद्धृत करते हुए लिखा है[3] कि 'इसके आगे पूर्वोक्त छहो द्रव्योका

---

१ '' श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवै पूर्वं '—पृ० २। '' ''तिष्ठन्तीत्यभिप्रायो भगवतां श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवानामिति।' —पृ० ५८। 'इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचिते द्रव्यसग्रहग्रन्थे '' '''प्रथमोऽधिकार समाप्त।' 'इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचिते द्रव्यसंग्रहग्रन्थे द्वितीयोऽधिकार समाप्त।' 'इति'''श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैर्विरचितस्य द्रव्यसग्रहाभिधानग्रन्थस्य ' श्रीब्रह्मदेवकृतवृत्ति समाप्ता।'—पृ० २४१।

२ आशाधर, सा० ध० टी० ४–५२, अनगा० ध० टी० ८–८८।

३ बृहद्द्रव्यसग्रह-संस्कृतटीका पृ० ७६।

चूलिकारूपसे विशेष व्याख्यान किया जाता है। वह इस प्रकार है।' यह उत्थानिकावाक्य देकर उन दोनो गाथाओंको दिया गया है और द्रव्यसग्रह-कारकी गाथाओकी तरह ही उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है। व्याख्याके अन्तमे '**चूलिका**' शब्दका अर्थ बतलाते हुए लिखा है कि विशेष व्याख्यान, अथवा उक्तानुक्त व्याख्यान और उक्तानुक्त मिश्रित व्याख्यानका नाम चूलिका है।

आशय यह है कि ब्रह्मदेवने वसुनन्दिकी गाथाओ (नं०२३ व २४) को जिस ढगमे यहाँ प्रस्तुत किया है और उनकी व्याख्या दी है, उससे विदित होता है कि वे वसुनन्दिके गुरु नेमिचन्द्रको ही द्रव्यसग्रहका कर्त्ता मानते थे और इसी लिए वसुनन्दिकी उक्त विशिष्ट गाथाओ और अपनी व्याख्याद्वारा उनके गुरु (नेमिचन्द्र द्रव्यसग्रहकार) के संक्षिप्त कथनका उन्होने विस्तार किया है। और यह कोई असगत भी नही है, क्योंकि गुरुके हृदयस्थ अभिप्रायका जितना जानकार एव उद्घाटक साक्षात्-शिष्य होसकता है उतना प्राय अन्य नही। उक्त गाथाओंकी ब्रह्मदेवने उसी प्रकार व्याख्या की है जिस प्रकार उन्होने द्रव्यसग्रहकी समस्त गाथाओकी की है। स्मरण रहे कि ब्रह्मदेवने अन्य आचार्योंके भी बीसियो उद्धरण दिये है, पर उनमेसे उन्होंने किसी भी उद्धरणकी ऐसी व्याख्या नही की और न इस तरहसे उन्हे उपस्थित किया है—उन्हे तो उन्होंने '**तदुक्त**', '**तथा चोक्त**' जैसे शब्दोके साथ उद्धृत किया है। जब कि वसुनन्दिकी उक्त गाथाओको द्रव्य-सग्रहकारकी गाथाओकी तरह '**अत परं पूर्वोक्तद्रव्याणां चूलिका-रूपेण विस्तर-व्याख्यानं क्रियते। तद्यथा—**' जैसे उत्थानिका-वाक्य के साथ दिया है। अत: ब्रह्मदेवके उपर्युक्त प्रतिपादनपरसे यह निष्कर्ष सहज ही निकला जा सकता है कि उन्हे वसुनन्दिके गुरु नेमिचन्द्र ही द्रव्य-सग्रहके कर्त्ता अभीष्ट है—वे उन्हे उनसे भिन्न व्यक्ति नही मानते है।

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह-सस्कृतटीका पृ० ८०।

इस तरह उपर्युक्त आधारोसे द्रव्यसंग्रहके कर्त्ता मुनि नेमिचन्द्र वे ही नेमिचन्द्र ज्ञात होते हैं, जो वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवके गुरु और नयनन्द्रि सिद्धान्तिदेव (सिद्धान्तपारंगत)[1] के शिष्य है। सम्भवतः इसीसे—गुरु-शिष्योको 'सिद्धान्तिदेव' होने से—ब्रह्मदेव उन्हे (द्रव्यसग्रहकार मुनि नेमिचन्द्रको) भी 'सिद्धान्तिदेव' मानते और उल्लिखित करते हुए देखे जाते है। इसके प्रचुर प्रमाण उनकी द्रव्यसग्रहवृत्तिमे उपलब्ध है।

(घ) समय :

हम ऊपर कह आये है कि नयनन्दिने अपना 'सुदंसणचरिउ' विक्रम स० ११०० मे पूर्ण किया है। अतः नयनन्दिका अस्तित्व-समय वि० स० ११०० है। यदि उनके शिष्य नेमिचन्द्रको उनसे अधिक-से-अधिक २५ वर्ष पीछे माना जाय तो वे लगभग वि० स० ११२५ के ठहरते है। उधर इनके शिष्य वसुनन्दिका समय विक्रमकी १२ वी शताब्दीका पूर्वार्ध अर्थात् वि० स० ११५० माना जाता है,[2] जो उचित है। इससे भी नयनन्दि (वि० सं० ११००) और वसुनन्दि (वि० स० ११५०) के मध्यमे होनेवाले इन नेमिचन्द्रका समय विक्रम स० ११२५ के आस-पास होना चाहिए।

(ङ) गुरु-शिष्य

यद्यपि द्रव्यसग्रहकारने न अपने किसी गुरुका उल्लेख किया है और न किसी शिष्यका। उनके उपलब्ध लघु और बृहद् दोनो द्रव्य-सग्रहोमे उन्होने अपना नाममात्र दिया है। इतना विशेष है कि लघु-

---

१ वसुनन्दि, उपासकाध्ययन गा० ५४२।

२. प० जुगलकिशोर मुख्तार, पुरातन जैन वाक्य-सूची, प्रस्तावना पृ० १००।

द्रव्यसंग्रहमें उसकी रचनाका निमित्त भी बताया है[1]। और वह है सोम (राजश्रेष्ठी)। उन्हीके बहानेसे भव्य जीवोके कल्याणार्थ उन्होने उसे रचा है। फिर भी वसुनन्दिके उल्लेखानुसार उनके गुरु नयनन्दि हैं और दादा गुरु श्रीनन्दि[2]। वसुनन्दि उनके साक्षात्शिष्य हैं। वसुनन्दिने अपना **'उपासकाध्ययन'**, जो अर्थतः आचार्यपरम्परासे आगत था, शब्दतः उन्हीसे सिद्धान्तका अध्ययन करके उनके प्रसादसे पूरा किया था[3]। ग्रन्थकारके और भी शिष्य रहे होगे, पर उनके जाननेका अभीतक कोई साधन प्राप्त नही है।

(च) प्रभाव :

यो तो ग्रन्थकारने स्वयं अपना कोई परिचय नही दिया, जिससे उनके प्रभावादिका पता चलता, तथापि उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोद्वारा उनका स्मरण किया जाना और **'भगवान्'** जैसे सम्मानसूचक शब्दोके साथ उनके द्रव्यसंग्रहकी गाथाओंका उद्धरण देना आदि बातोसे उनके प्रभावका पता चलता है[4]। वसुनन्दि सिद्धान्तिदेव तो उन्हें **'जिनागमरूपी समुद्रकी वेला-तरङ्गोंसे धुले हृदयवाला'** तथा **'समस्त जगतमें विख्यात'**

---

१. सोमच्छलेण रइया पयत्थलक्खणकराउ गाहाओ।
भव्वुवयार-णिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचंदेण॥
—लघुद्रव्यसं० गा० २५।

२ वसुनन्दिसिद्धान्तिदेव, उपासकाध्ययन गा० ५४०,५४१,५४२।

३ वही, गा० ५४४।

४. ब्रह्मदेव, द्रव्यसंग्रह-संस्कृतटीका, पृ० ५८, १४९, २२९। तथा आशाधर, अनगारधर्मामृतटीका पृ० ४, १०९, ११६, ११८। और जयसेन, पञ्चास्तिकाय-तात्पर्यवृत्ति पृ० ६, ७, १६३, १८६।

बतलाते है। इससे वे तत्कालीन विद्वानोंमे निश्चय ही एक प्रभावशाली एवं सिद्धान्तवेत्ता विद्वान् रहे होंगे, यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

(छ) स्थान .

ब्रह्मदेवके[1] उल्लेखानुसार ग्रन्थकारने अपने दोनो द्रव्यसग्रहोकी रचना **'आश्रम'** नामक नगरके श्रीमुनिसुव्रततीर्थकरचैत्यालयमे रहते हुए की थी। यह **'आश्रम'** नगर उस समय मालवाके अन्तर्गत था और मालवा-सम्राट् धाराधिपति परमारवंशी भोजदेवके प्रान्तीय-प्रशासक परमारवंशीय श्रीपालद्वारा वह प्रशासित था। **'सोम'** नामक राजश्रेष्ठी उनका प्रभावशाली एव विश्वसनीय अधिकारी था, जिसके अधिकारमे खजाना आदि कई महत्त्वपूर्ण विभाग थे। इन सोमश्रेष्ठीके अनुरोधपर ही श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवने पहले २६ गाथात्मक पदार्थलक्षणरूप **'लघुद्रव्यसंग्रह'** और फिर पीछे विशेष तत्त्वज्ञानके लिए **'बृहद्द्रव्यसंग्रह'** रचा था। ब्रह्मदेवने अपने इस उल्लेखमे सोमश्रेष्ठीको **'परम आध्यात्मिक भव्योत्तम'** बताया है, जिससे सोमश्रेष्ठीकी उत्कट आध्यात्मिक-जिज्ञासाका परिचय

---

१ 'अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तिसम्बन्धिनः श्रीपालमण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थकरचैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादविपरीतनारकादिदु.खभयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्नसुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्त श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवै पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्ति. प्रारभ्यते।'

—ब्रह्मदेव, बृहद्द्रव्यस० वृत्ति पृ० १-२।

मिलता है। इसी उल्लेखसे जहाँ यह भी ज्ञात होता है कि उक्त 'आश्रम' नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवके स्थायी अथवा अस्थायी निवासके रूपमें विश्रुत था, और सोमश्रेष्ठी जैसे आध्यात्मिक सुधारसपिपासु वहाँ पहुँचते थे, वहाँ इस पावन स्थानका महत्त्व भी प्रकट होता है। लगता है कि उन दिनों जैन परम्परामें इस स्थानकी प्रसिद्धि एवं मान्यता वहाँके उक्त चैत्यालयमें प्रतिष्ठित बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथकी सातिशय, मनोज्ञ एवं आकर्षक प्रतिमाके कारण रही है। मूर्तिके इस अतिशयका उल्लेख मुनि मदनकीर्तिने शासनचतुस्त्रिंशिका (पद्य २८), निर्वाणकाण्डकारने प्राकृत-निर्वाणकाण्ड (गा० २०) और मुनि उदयकीर्तिने अपभ्रंश-निर्वाणभक्ति (गा० ६) में भी किया है। इन उल्लेखोंसे स्पष्ट जान पड़ता है कि उक्त 'आश्रम' नगर एक प्रसिद्ध और पावन दिगम्बर तीर्थस्थान रहा है।

इस स्थानकी वर्तमान स्थितिके बारेमें प० दीपचन्द्रजी पाण्ड्या[1] और डा० दशरथ शर्माने[2] ऊहापोह एवं प्रमाणपूर्वक विचार करते हुए लिखा है कि 'आश्रम' नगर, जिसे साहित्यकारोंने आश्रम[3], आशारम्यपट्टण[4], आश्रमपत्तन[5], पट्टण[6] और पुटभेदन[7] के नामसे उल्लेखित किया है[8], राज-

१. 'क्या पाटण-केशोराय ही प्राचीन आश्रमनगर है ?' शीर्षक लेख, वीरवाणी (स्मारिका) वर्ष १८, अंक १३, पृ० १०९।

२. 'आश्रमपत्तन ही केशोराय पट्टन है' शीर्षक निबन्ध, अनेकान्त (छोटेलाल स्मृति अंक) वर्ष १९, कि० १-२, पृ० ७०।

३. मदनकीर्ति, शासनचतुस्त्रिंशिका पद्य २८ तथा उदयकीर्ति अपभ्रंशनिर्वाणभक्ति गा० ६।

४ निर्वाणकाण्ड गा० २०।

५. नयचन्द्रसूरि, हम्मीरकाव्य ८-१०६।

६, ७. चन्द्रशेखर, सुर्जनचरितमहाकाव्य ११-२२, ३९।

८ जल और स्थल मार्गोंसे व्यापार करनेवाले नदी-किनारे स्थित

स्थानके अन्तर्गत कोटामे उत्तरपूर्वको ओर लगभग ९ मीलकी दूरीपर और बूँदीसे लगभग ३ मील दूर चर्मण्वती (चम्बल) नदीपर अवस्थित वर्तमान 'केशोराय पाटण' अथवा 'पाटण केशोराय' ही है। प्राचीन कालमे यह राजा भोजदेवके परमार-साम्राज्यके अन्तर्गत मालवामे रहा है। निसर्गरमणीय यह स्थान आश्रम-भूमि (तपोवन)के उपयुक्त होनेके कारण वास्तवमे 'आश्रम' कहलानेका अधिकारी है। नदीके किनारे होनेसे यह बडा भव्य, शान्त और मनोज्ञ है। इसकी प्राकृतिक सुषमा बहुत ही आकर्षक है। सम्भवत इसी कारण यह जैनो (दिगम्बरो) के अतिरिक्त हिन्दुओका भी तीर्थ है। दिगम्बर-साहित्यमे इसके दिगम्बर तीर्थ होनेके प्रचुर उल्लेख विक्रमकी १२ वी–१३ वी शताब्दीसे मिलते है और जैनेतर-साहित्यमे इसके हिन्दू तीर्थ होनेके निर्देश विक्रमकी १५ वी–१६ वी शताब्दीमे उपलब्ध होते है। पाण्डयाजीके कथनानुसार आज भी वहाँ (पाटण केशोराय कस्बामे) चम्बल नदीके किनारे बहुत विशाल लगभग ४० फुट ऊँचा भव्य जैन मन्दिर है। मन्दिरका एक भाग सुदृढ नीव है, जिसमे मन्दिरको पानीसे कभी क्षति न पहुँचे। दूसरे भागमे शाला, कोठे आदि बने हुए है, जहाँ बहुसख्यामे बाहरसे यात्री आते व ठहरते है और दर्शन, पूजन करके मनोरथ पूरा होने हेतु गण-भोज भी किया करते है। श्रीमुनिसुव्रतकी दिगम्बरीय प्रतिमा मन्दिरके ऊपरी भागमे भूगर्भमे विराजमान है। पृथ्वीतलमे नीचे होनेके कारण जनता इस प्राचीन मन्दिरको 'भुई देवरा' (भौयरा) कहती है[1]। डा० शर्माके

नगरको पुटभेदन और मुख्यत. बन्दरगाहको पत्तन या पट्टन कहा जाता है, चाहे वह समुद्रतटपर हो या नदी-तटपर। आश्रमनगरके लिए ये दोनो शब्द प्रयुक्त हो सकते है, क्योकि वह चम्बलके किनारे स्थित है।

१. डा० शर्माके उल्लिखित लेखमे उद्धृत 'आर्काएलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया की १९०४-५ की प्रोग्रेस रिपोर्ट।

सूचनानुसार रणथभोरके राजा हठीले हम्मीरके पिता जैसिहने पुत्रको राज्य देकर **आश्रमपत्तन**के पवित्र तीर्थके लिए प्रयाण किया था[1]। तथा रण-थभोरेश्वर हम्मीरने राजधानीमे यज्ञ न कर इसी महान् तीर्थपर आकर **'कोटिमख'** किया था[2]। किन्तु प्रतीत होता है कि १६वी शताब्दीकी जनता इसे आश्रमपत्तन या आश्रमनगर न कह कर पत्तन या पट्टन या पुटभेदन कहने लगी थी[3]।

इस तरह आश्रमनगर[4] जैनोके साथ हिन्दुओका भी पावन तीर्थस्थान है। श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवने ऐसे महत्त्वपूर्ण एव प्राकृतिक सुषमासे सम्पन्न शान्त स्थानको साहित्य-सृजन, ज्ञानाराधन और ध्यान आदिके लिए चुना हो, तो कोई आश्चर्य नही है।

(ज) रचनाएँ :—

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है कि श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवकी दो ही रचनाएँ उपलब्ध है—एक लघुद्रव्यसग्रह और दूसरी बृहद्द्रव्यसग्रह।

---

१ नयचन्द्रसूरि, हम्मीरमहाकाव्य ८–१०६।

२. चन्द्रशेखर, सुर्जनचरितमहाकाव्य ११–५८।

३ वही, ११–२२।

४. सन् १९४९ मे मदनकीर्तिकी शासनचतुस्त्रिशिकाके सम्पादन-समय उसके उल्लेख (पद्य २८) में आये 'आश्रम' पदसे आश्रमनगरकी ओर मेरा ध्यान नही गया था और उसके तृतीय चरणमें विद्यमान 'विप्र-जनावरोधनगरे' शब्दोपरसे अवरोधनगरकी कल्पना की थी, जो ठीक नही थी। वहाँ 'आश्रम' से आश्रमनगर मदनकीर्तिको इष्ट है, इसकी ओर हमारा ध्यान प० दीपचन्द्रजी पाड्याके उस लेखने आकर्षित किया है, जो उन्होंने वीरवाणी (स्मारिका) वर्ष १८, अक १३ में प्रकाशित किया है और जिसका जिक्र ऊपर किया गया है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं।—सम्पादक।

इन दोके अलावा उनकी और कोई कृति प्राप्त नहीं है। उनके प्रभावको देखते हुए यह सम्भावना अवश्य की जा सकती है कि उनने और भी कृतियोका निर्माण किया होगा, जो या तो लुप्त हो गई या शास्त्र-भण्डारोमे अज्ञात दशामे पडी होगीं।

(झ) ब्रह्मदेव :

ब्रह्मदेव श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवके बृहद्द्रव्यसग्रहके संस्कृत-टीकाकार है और वे उनके ग्रन्थोसे बहुत परिचित एवं प्रभावित मालूम पडते है। अत उनके व्यक्तित्व, कृतित्व और समयके सम्बन्धमे भी यहाँ विचार करना अनुचित न होगा।

(१) व्यक्तित्व :

श्रीब्रह्मदेवको रचनाओपरसे उनके व्यक्तित्वका अच्छा परिचय मिलता है। वे प्राकृत, अपभ्र श और संस्कृत तीनो भाषाओके पण्डित थे और तीनोमे उनका अबाध प्रवेश दिखाई देता है। वे अध्यात्मकी चर्चा करते हुए उसके रसमे स्वय तो निमग्न होते ही हैं, किन्तु पाठकोको भी उसमे तन्मय कर देनेकी क्षमता रखते है[1]। इससे वे स्पष्टतया आध्यात्मिक विद्वान् जान पडते है। लेकिन इससे यह न समझ लिया जाय कि वे केवल आध्यात्मिक ही विद्वान् थे। वरन् द्रव्यानुयोगकी चर्चाके साथ प्रथमानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोगके बीसियो ग्रन्थोके उद्धरण देकर वे अपना चारो अनुयोगोका पाण्डित्य एव बहुश्रुतत्व भी स्थापित करते है। पचास्तिकायकी तात्पर्यवृत्तिमे जयसेनने और परमात्मप्रकाशको कन्नड-टीकामें मलधारी बालचन्द्रने उनका पूरा अनुकरण किया है। पदच्छेद, उत्थानिका, अधिकारो और अन्तराधिकारोकी कल्पना इन दोनो विद्वानोने ब्रह्मदेवसे ली है। शब्दसाम्य और अर्थसाम्य तो अनेकत्र है। समयका विचार करते

१. परमात्मप्रकाशवृत्ति (नई आवृत्ति) १–२१४, पृ० ३५१।

समय हम आगे दिखायेंगे कि जयसेनका अनुकरण ब्रह्मदेवने नही किया, अपितु ब्रह्मदेवका जयसेनने किया है ।

(२) कृतित्व :

ब्रह्मदेवकी निम्न रचनाएँ मानी जाती हैं :—

१. परमात्मप्रकाशवृत्ति, २. बृहद्द्रव्यसग्रहवृत्ति, ३. तत्त्वदीपक, ४ ज्ञानदीपक, ५. त्रिवर्णाचारदीपक, ६. प्रतिष्ठातिलक, ७. विवाहपटल और ८ कथाकोश ।

परन्तु डा० ए० एन० उपाध्ये उनकी दो ही प्रामाणिक रचनाएँ बतलाते हैं [१]—एक परमात्मप्रकाशवृत्ति और दूसरी बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्ति ।

१. परमात्मप्रकाशवृत्ति—परमात्मप्रकाश (परमप्पयासु) श्री योगिन्द्रदेवकी अपभ्रशमे रची महत्त्वपूर्ण कृति है । इसमे आत्मा ही परमात्मा है, इसपर प्रकाश डाला गया है । ब्रह्मदेवने इसीपर सस्कृतमें अपनी वृत्ति लिखी है, जिसे उन्होने स्वयं **'परमात्मप्रकाशवृत्ति'** कहा है [२]। आध्यात्मिक पद्धति, पदच्छेद, उत्थानिका, सन्धिकी यथेच्छता, अधिकारो और अन्तराधिकारोकी कल्पना ये सब बृहद्द्रव्यसग्रहवृत्तिकी तरह इसमें भी है । भाषा सरल और सुबोध है ।

२. बृहद्द्रव्यसग्रहवृत्ति—इसका परिचय इसी प्रस्तावनामे पृष्ठ २३ पर दिया जा चुका है ।

(३) समय :

(१) ब्रह्मदेवने वसुनन्दिके उपासकाध्ययनसे दो गाथाएँ (न० २३ व २४) बृहद्द्रव्यसग्रहवृत्ति (पृ० ७६) मे उद्धृत की है और उनका विस्तृत

---

१ परमात्मप्रकाश (नई आवृत्ति), हिन्दी प्रस्तावना पृ० ११६ ।

२ सूत्राणां विवरणभूता परमात्मप्रकाशवृत्ति समाप्ता ।'—डा० उपाध्ये, परमात्मप्रकाश अ० २-२१४, पृ० ३५० ।

व्याख्यान किया है। वसुनन्दिका समय विक्रम स० ११५० है। अतः ब्रह्मदेव वसुनन्दि (वि० ११५०) से पूर्ववर्ती नही है—इनके उत्तरवर्ती है।

(२) प० आशाधरजी (वि० स० १२९६) ने अपने सागारधर्मामृत (१–१३) मे ब्रह्मदेवकी बृहद्द्रव्यसग्रहवृत्ति (पृ० ३३–३४) का अनुकरण किया है और उनके 'तलवरगृहीततस्कर' का उदाहरण ही नही अपनाया, अपितु उनके शब्दो और भावोको भी अपनाया है[1]। अतएव ब्रह्मदेव पं० आशाधरजी (वि० सं० १२९६) से पूर्ववर्ती है।

(३) ब्रह्मदेवने सम्यग्दृष्टिके पुण्य और पाप दोनोको हेय बतलाते हुए दृष्टान्तके साथ जो इस विषयकी गद्य दी है उसका अनुकरण जयसेनने पञ्चास्तिकायकी तात्पर्यवृत्तिमे किया है। इसके कई आधार है। पहले, जयसेनने यहाँ ब्रह्मदेवके दृष्टान्तको तो लिया ही है, उनके

१. तुलना कीजिए:—

(क) ' निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयम्, इन्द्रियसुखादिपरद्रव्यं हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन मन्यते परं किन्तु भूरेखादिसदृशक्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्तं तलवरगृहीततस्करवदात्मनिन्दासहित सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्य-विरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम्।

—ब्रह्मदेव, बृ० द्र० वृ० पृ० ३३–३४।

(ख) भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया,
हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत्।
चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवात्मनिन्दादिमान्,
शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोऽप्यघैः॥

—आशाधर, सागारधर्मामृत १–१३।

शब्दो और भावोको भी अपनाया है।[1] दूसरे, जयसेनने अपने ढंगसे मामूली परिवर्तन (घटा-बढीरूप सुधार) भी किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसने किसका अनुकरण किया है। उदाहरणके लिए ब्रह्मदेवका **'देशान्तरस्थस्त्री'**—का दृष्टान्त लीजिए। इसमे जयसेनने 'सीतादि' पद और जोडकर **'देशान्तरस्थ-सीतादिस्त्री'** का दृष्टान्त दिया है। इसी तरह ब्रह्मदेवके **'कोऽपि'**

---

१ (क) यथा कोऽपि देशान्तरस्थमनोहरस्त्रीसमीपादागतपुरुषाणां तदर्थं दानसन्मानादिकं करोति तथा सम्यग्दृष्टिरप्युपादेयरूपेण स्व-शुद्धात्मानमेव भावयति निर्दोषपरमात्मस्वरूपाणामर्हत्सिद्धानां तदा-राधकाचार्योपाध्यायसाधूनां च परमात्मपदप्राप्त्यर्थं विषयकषायवञ्चनार्थं च दानपूजादिना परमभक्तिं करोति तेन च स्वर्गे देवेन्द्रलौकान्तिका-दिविभूतिं प्राप्य विमानपरीवारादिसंपदं जीर्णतृणमिव गणयन् पञ्च-महाविदेहेषु गत्वा पश्यति। किं पश्यति, इति चेत्—तदिदं समवसरणं, त एते वीतरागसर्वज्ञाः, त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधका गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयन्ते इति मत्वा विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा चतुर्थगुणस्थान-योग्यामात्मनोऽविरतावस्थामपरित्यजन् भोगानुभवेऽपि सति धर्मध्यानेन कालं नीत्वा स्वर्गादागत्य तीर्थकरादिपदे प्राप्तेऽपि पूर्वभवभावितविशिष्ट-भेदज्ञानवासनाबलेन मोहं न करोति, ततो जिनदीक्षां गृहीत्वा पुण्यपा-परहितनिजपरमात्मध्यानेन मोक्षं गच्छतीति।'

—बृह० द्र० वृ० पृ० १५९-१६०।

(ख) 'यथा कोऽपि रामदेवादिपुरुषो देशान्तरस्थसीतादिस्त्रीसमीपा-दागतानां पुरुषाणां तदर्थं दानसन्मानादिकं करोति तथा मुक्तिस्त्रीवशी-करणार्थं निर्दोषपरमात्मना तीर्थकरपरमदेवानां तथैव गणधरदेवभरतसगर-रामपाण्डवादिमहापुरुषाणां चाशुभरागवञ्चनार्थं शुभधर्मानुरागेण चरित-पुराणादिकं श्रृणोति भेदाभेदरत्नत्रयभावनारतानामाचार्योपाध्यायादीनां

पदके साथ **'रामदेवादिपुरुषो'** और मिलाकर **कोऽपि रामदेवादि-पुरुषो'** ऐसा व्याख्यात्मक पद जयसेनने प्रस्तुत किया है। इस ढगके सुधार और परिवर्तन उत्तरवर्ती हो करता है और इसलिए यह निःसकोच कहा जा सकता है कि जयसेनने ब्रह्मदेवका अनुकरण किया है। तीसरे, पदच्छेद, उत्थानिका, अधिकारो और अन्तराधिकारोकी कल्पना जयसेनने ब्रह्मदेवसे ली है। चोथे, जयसेनने पचास्तिकायमे व्याख्याका ढग वही अपनाया है, जो ब्रह्मदेवने द्रव्यसग्रह और परमात्मप्रकाशमे अपनाया है। सन्धि न करनेका जो **'सुखबोधार्थ'** हेतु ब्रह्मदेवने प्रस्तुत किया है वही जयसेनने दिया है। पाँचवे, जयसेनने अपने निमित्त-कथनका समर्थन ब्रह्मदेवके निमित्त-कथनसे किया है और **'अत्र प्राभृतग्रन्थे शिवकुमार महाराजो निमित्तं, अन्यत्र द्रव्यसग्रहादौ सोमश्रेष्ठयादि ज्ञातव्यम्'** शब्दोको देकर तो उन्होने स्पष्टतया ब्रह्मदेवके अनुकरणको प्रमाणित कर दिया है। इस प्रकार दोनो टीकाकारोकी टीकाओके आभ्यन्तर परीक्षणसे जयसेन निश्चय ही ब्रह्मदेवके उत्तरकालीन विद्वान् ज्ञात होते हैं।

गृहस्थावस्थायां च पुनर्दानपूजादिकं करोति च तेन कारणेन पुण्यास्रवपरिणामसहितत्वात्तद्भवे निर्वाणं न लभते भवान्तरे पुनर्देवेन्द्रादिपदं लभते। तत्र विमानपरीवारादिविभूतिं तृणवद्गणयन् सन् पञ्चमहाविदेहेषु गत्वा समवसरणे वीतरागसर्वज्ञान् पश्यति। निर्दोषपरमात्माराधारकगणधरदेवादीनां च तदनन्तरं विशेषेण दृढधर्मो भूत्वा चतुर्थगुणस्थानयोग्यामात्मभावनामपरित्यजन सन् देवलोके कालं गमयति। ततोऽपि जीवितान्ते स्वर्गादागत्य मनुष्यभवे चक्रवर्त्यादिविभूतिं लब्ध्वापि पूर्वभवभावितशुद्धात्मभावनाबलेन मोहं न करोति, ततश्च विषयसुखं परिहृत्य जिनदीक्षां गृहीत्वा....निजशुद्धात्मनि स्थित्वा मोक्षं गच्छतीति।'

—पंचास्तिकायतात्पर्यवृत्ति पृ० २४३–२४४।

जयसेनका समय डा० ए० एन० उपाध्येने ईसाकी बारहवी शताब्दीका उत्तरार्ध निर्धारित किया है। ब्रह्मदेव उक्त आधारोसे उनसे पूर्ववर्ती सिद्ध होनेसे उनका अस्तित्व-समय ईसाकी बारहवी शताब्दीका आरम्भ और विक्रमकी १२ वी शताब्दीका उत्तरार्द्ध (वि० सं० ११५० से १२००) ज्ञात होता है।

इस तरह ब्रह्मदेव वसुनन्दि (वि० सं० ११५०) से उत्तरवर्ती और जयसेन (वि० सं० १२१७) तथा प० आशाधर (वि० स० १२६६) से पूर्ववर्ती अर्थात् वि० स० ११५० से वि० स० १२०० के विद्वान् प्रतीत होते है।

प० परमानन्दजी शास्त्रीने ब्रह्मदेव, द्रव्यसंग्रहकार मुनि नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव और राजा भोजदेव इन तीनोको समकालीन बतलाया है[1]। परन्तु हम ऊपर देख चुके है कि ब्रह्मदेव वसुनन्दि (वि० स० ११५०) से पूर्ववर्ती नही है और नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव वसुनन्दिके साक्षात् गुरु होनेसे उन्हे उनसे २५ वर्ष पूर्व तो होना ही चाहिए अर्थात् नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवका समय वि० स० ११२५ के लगभग है। राजा भोजदेव नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवके गुरु नयनन्दि (वि० स० ११००) द्वारा अपने समयमे उनके राज्यका उल्लेख होनेसे उनके समकालीन है। अत. इन तीनोका समय एक प्रतीत नही होता। राजा भोजका वि० स० ११०० (वि० १०७४–१११७), नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवका वि० सं० ११२५ और ब्रह्मदेवका वि० स० ११७५ अस्तित्व-समय सिद्ध होता है।

(ञ) वचनिकाकार पं० जयचन्दजी :

अब वचनिकाकार प० जयचन्दजीके सम्बन्धमे विचार किया जाता है।

---

१ 'द्रव्यसंग्रहके कर्ता और टीकाकारके समयपर विचार' शीर्षक लेख, अनेकान्त (छोटेलाल जैन स्मृति अक) पृ० १४५।

(१) परिचय .

पं० **जयचन्दर्जीने** स्वयं अपना कुछ परिचय सर्वार्थसिद्धि-वचनिकाकी अन्तिम प्रशस्तिमें दिया है।[1] उससे ज्ञात है कि वे राजस्थान प्रदेशके अन्तर्गत **जयपुरसे** तीस मीलकी दूरीपर डिग्गीमालपुरा रोडपर स्थित **'फागई'** (फागी) ग्राममें पैदा हुए थे। इनके पिताका नाम **मोतीराम** था, जो 'पटवारी' का कार्य करते थे। इनकी जाति खण्डेलवाल और **गोत्र** छावड़ा था। श्रावक (जैन) धर्मके अनुयायी थे। परिवारमें शुभ क्रियाओंका पालन होता था। परन्तु स्वयं ग्यारह वर्षकी **अवस्था** तक जिनमार्गको भूले रहे और जब ग्यारह वर्ष पूरे हुये, तो जिनमार्गको जाननेका ध्यान आया। इसे उन्होंने अपना इष्ट और शुभोदय

---

१ काल अनादि भ्रमत संसार, पायो नरभव मैं सुखकार।
जन्म फागई लयौ सुथानि, मोतीराम पिताके आनि ॥११॥
पायो नाम तहाँ जयचन्द, यह परजायतणूं मकरन्द।
द्रव्यदृष्टि मैं देखूं जबै, मेरा नाम आतमा कबै ॥१२॥
गोत छावड़ा श्रावक धर्म, जामैं भली क्रिया शुभ कर्म।
ग्यारह वर्ष अवस्था भई, तब जिनमारगकी सुधि लही ॥१३॥
आन इष्टको ध्यान अयोगि, अपने इष्ट चलन शुभ जोगि।
तहाँ दूजो मन्दिर जिनराज, तेरापंथ पंथ तहाँ साज ॥१४॥
देव-धर्म-गुरु सरधा कथा, होय जहाँ जन भाषै यथा।
तब मो मन उमग्यो तहाँ चलो, जो अपनो करनो है भलो॥१५॥
जाय तहाँ श्रद्धा दृढ करी, मिथ्याबुद्धि सबै परिहरी।
निमित्त पाय जयपुरमें आय, बड़ी जु शैली देखी भाय ॥१६॥
गुणीलोक साधर्मी भले ज्ञानी पंडित बहुतै मिले।
पहले थे वंशीधर नाम, धरै प्रभाव भाव शुभ ठाम ॥१७॥
टोडरमल पंडित मति खरी, गोमटसार वचनिका करी।
ताकी महिमा सब जन करैं, वाचै पढ़ै बुद्धि विस्तरै ॥१८॥

समझा। उसी ग्राममे एक दूसरा जिनमन्दिर था, जिसमें तेरापंथकी शैली थी और लोग देव, धर्म तथा गुरुकी श्रद्धा-उत्पादक कथा (वचनिका-तत्त्वचर्चा) किया करते थे। पं० जयचन्दजी भी अपना हित जानकर वहाँ जाने लगे और चर्चा-वार्तामें रस लेने लगे। इससे वहाँ उनकी श्रद्धा दृढ़ हो गई और सब मिथ्या बुद्धि छूट गई। कुछ समय बाद वे निमित्त-पाकर फागईसे **जयपुर** आ गये। वहाँ तत्त्व-चर्चा करनेवालोंकी उन्होंने बहुत बड़ी शैली देखी, जो उन्हें अधिक रुचिकर लगी। उस समय वहाँ गुणियों, साधर्मीजनों और ज्ञानी पण्डितोंका अच्छा समुदाय था। उनमें पंडित **वंशीधर**जी उनसे पहले हो चुके थे, जो बड़े प्रभावशाली तथा अच्छे विद्वान् थे। पंडित **टोडरमल**जी उनके समयमें थे और जो बड़े तीक्ष्ण-बुद्धि थे। उनकी गोम्मटसार-वचनिकाकी प्रशंसा सभी करते थे। उसीका वाचन, पठन-पाठन और मनन चलता था तथा लोग अपनी बुद्धि बढ़ाते थे। पं० **दौलतराम**जी कासलीवाल बड़े गुणी थे और **'पंडितराय'** कहे जाते थे। राजपरिवारमें वे आते-जाते थे। उन्होंने तीन पुराणोंकी वचनिकाएँ की थी। उनकी सूक्ष्म बुद्धिकी सर्वत्र संस्तुति होती थी। ब्रह्म **रायमल्ल**जी और शीलव्रती **महाराम**जी भी उस शैलीमें थे। पं० **जयचन्द**जी इन्हीं गुणी-जनों तथा विद्वानोंकी संगतिमें रहने लगे थे। और अपनी बुद्धि अनुसार जिनवाणी (शास्त्रों) के स्वाध्यायमें प्रवृत्त हो गये थे। उन्होंने जिन ग्रन्थोंका मुख्यतया स्वाध्याय किया था, उनका नामोल्लेख उन्होंने इसी प्रशस्तिमें स्वयं किया है। सिद्धान्त-ग्रन्थोंके स्वाध्यायके अतिरिक्त

दौलतराम गुणी अधिकाय, पंडितराय राजमें जाय।
ताकी बुद्धि लसै सब खरी, तीन पुराण वचनिका करी ॥१९॥
रायमल्ल त्यागी गृहवास, महाराम व्रतशील-निवास।
मैं हूँ इनकी संगति ठानि, बुधिमारू जिनवाणी जानि ॥२०॥
सर्वार्थसिद्धिवचनिका, अन्तिमप्रशस्ति।

न्याय-ग्रन्थो तथा अन्य दर्शनोके ग्रन्थोका भी उन्होने अभ्यास किया था। उनकी वचनिकाओसे भी उनकी बहुश्रुतता प्रकट होती है। लगता है कि पडित **टोडरमल**जी जैसे अलौकिक प्रतिभाके धनी विद्वानोके सम्पर्कसे ही उनकी प्रतिभा जागृत हुई और उन्हे अनेक ग्रन्थोकी वचनिकाएँ लिखनेकी प्रेरणा मिली।

उक्त प्रशस्तिके आरम्भमे राज-सम्बन्धका भी वर्णन करते हुए उन्होने लिखा है[1] कि जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रके आर्यखण्डके मध्यमे **'ढुंढाहड'** देश है। उसकी राजधानी **'जयपुर'** नगर है। वहाँका राजा **'जगतेश'** (जगतसिंह) है, जो अनुपम है और जिसके राज्यमे सर्वत्र सुख-चैन है तथा प्रजामे परस्पर प्रेम है। सब अपने-अपने मतानुसार प्रवृत्ति करते है, आपसमे कोई विरोध-भाव नही है। राजाके कई मत्री है। सभी बुद्धिमान् और राजनीतिमे निपुण है। तथा सब ही राजाका हित चाहनेवाले एव योग्य प्रशासक है। इन्हीमे एक रायचन्द है, जो बडे गुणी है और जिनपर राजाकी विशेष कृपा है। यहाँ 'विशेष कृपा' के उल्लेखसे जयचन्दजीका भाव राजाद्वारा उन्हे 'दीवान' पदपर प्रतिष्ठित करनेका जान पडता है

---

१ जम्बूद्वीप भरत सुनिवेश, आरिज मध्य ढु ढाहड देश।
पुर जयपुर तहाँ सूवस वसै, नृप जगतेश अनुपम लसै ॥१॥
ताके राजमाहि सुखचैन, धरै लोक कहू नाहीं फैन।
अपने-अपने मत सब चले, शक नाहि धारै शुभ फलै ॥२॥
नृपके मन्त्री सब मतिमान, राजनीतिमे निपुण पुरान।
सब ही नृपके हितकौ चहैं, ईति-भीति टारैं सुख लहैं ॥३॥
तिनमे रायचन्द गुण धरै, तापरि कृपा भूप अति करै।
ताके जैन धर्मकी लाग, सब जैननिसू अति अनुराग ॥४॥
—सर्वार्थसिद्धि वचनिका अ० प्रशस्ति।

इसके आगे इसी प्रशस्तिमे रायचन्दजीके धर्म-प्रेम, साधर्मी-वात्सल्य आदि गुणोकी चर्चा करते हुए उन्होने उनके द्वारा की गई उस चन्द्रप्रभ-जिनमन्दिरकी प्रसिद्ध प्रतिष्ठा (वि० स० १८६१) का भी उल्लेख किया है, जिसके द्वारा रायचन्दजीके यश एव पुण्यकी वृद्धि हुई थी और समस्त जैनसघको बडा हर्ष हुआ था[1]।

प्रशस्तिमे प० जयचन्दजीने उनके साथ अपने विशेष सम्बन्धका भी संकेत किया है[2]। उनके इस संकेतमे ज्ञात होता है कि रायचन्दजीने निश्चित एव नियमित आर्थिक सहायता देकर उन्हे आर्थिक चिन्तासे मुक्त कर दिया था और तभी वे एकाग्रचित्त हो सर्वार्थसिद्धि-वचनिका लिख सके थे, जिसके लिखनेके लिए उन्हे अन्य सभी साधर्मीजनोने प्रेरणा की थी[3] और उनके पुत्र नदलालने भी अनुरोध किया था[4]। पं० जयचन्दजीने नंदलालके सम्बन्धमे लिखा है[5] कि वह बचपनसे विद्याको पढना-सुनता था। फलत वह अनेक शास्त्रोमे प्रवीण पडित हो गया था।

---

१ करी प्रतिष्ठा मंदिर नयौं, चद्रप्रभ जिन थापन थयौ।
ताकरि पुण्य बढौ यश भयौ, सर्व जैननिकौ मन हरखयौ ॥६॥
—सर्वार्थसिद्धि-वचनिका प्रश० ६।

२. ताके ढिग हम थिरता पाय, करी वचनिका यह मन लाय।
—वही, प्रश० ७।

३. भयौ बोध तब कछु चितयौ, करन वचनिका मन उमगयौ।
सब साधरमी प्रेरण करी, ऐसै मै यह विधि उचरी ॥
—वही, प्रश० पद्य १०।

४,५ नदलाल मेरा सुत गुनी, बालपने तैं विद्या सुनी।
पंडित भयौ बढौ परवीन, ताहूने प्रेरण यह कीन ॥
—वही, प्रश० पद्य ३१।

पडितजी द्वारा दिये गये अपने इस परिचयसे उनकी तत्त्व-बुभुत्सा, जैनधर्ममे अटूट श्रद्धा, तत्त्वज्ञानका आदान-प्रदान, जिनशासनके प्रसारका उद्यम, कषायकी मन्दता आदि गुण विशेष लक्षित होते है।

पडितजीके उल्लेखानुसार उनके पुत्र प० नन्दलालजी भी गुणी और प्रवीण विद्वान् थे। मूलाचार-वचनिकाकी प्रशस्तिमे भी, जो प०नन्दलालजीके सहपाठी शिष्य ऋषभदासजी निगोत्याद्वारा लिखी गई है, नन्दलालजीको 'प० जयचन्दजी जैसा बहुज्ञानी' बताया गया है[१]। प्रमेयरत्नमाला-वचनिकाकी प्रशस्ति (पद्य १६) मे यह भी मालूम होता है कि प० नन्दलालजीने अपने पिता प० जयचन्दजीकी इस वचनिकाका सशोधन किया था[२]। इससे प० नन्दलालजीकी सूक्ष्म बुद्धि और शास्त्रज्ञताका पता चलता है। प० नन्दलालजी दीवान अमरचन्दजीकी प्रेरणा पाकर मूलाचारकी पाँच-सौ सोलह गाथाओकी वचनिका कर पाये थे कि उनका स्वर्गवास हो गया था। बादमे उस वचनिकाको ऋषभदासजी निगोत्याने पूरा किया था[३]। निगोत्याजीने नन्दलालजीके तीन शिष्योका भी उल्लेख किया है[४]। वे है—मन्नालाल, उदयचन्द और माणिकचन्द।

---

१. तिन सम तिनके सुत भये, बहुज्ञानी नन्दलाल।
गाय-वत्स जिम प्रेमकी, बहुत पढ़ाये बाल॥
—मूला० वच० प्रश०।

२ लिखी यहै जयचन्दनैं, सोधी सुत नन्दलाल।
बुध लखि भूलि जु शुद्ध करि, बाँचौ सिखैंवो बाल॥
—प्रमेयर० वच० प्र० पद्य १६।

३ मूलाचारवचनिका प्रशस्ति।

४ तब उद्यम भाषातणो, करन लगे नन्दलाल।
मन्नालाल अरु उदयचन्द, माणिकचन्द जु बाल॥
—मूलाचारवचनिका प्रश०।

पं० जयचन्दजीके एक और पुत्रका, जिनका घासीराम नाम था, निर्देश पं० परमानन्दजी शास्त्रीने किया है[1]। पर उनका कोई विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है।

यहाँपर एक बात और ज्ञातव्य है। वह यह कि प० जयचन्दजीकी वचनिकाओंसे सर्व साधारणको तो लाभ पहुँचा ही है, प० भागचन्दजी (वि० स० १९१३) जैसे विद्वानोंके लिए भी वे पथ-प्रदर्शिका हुई है। प्रमाणपरीक्षाकी अपनी वचनिका-प्रशस्तिमें वे प० जयचन्दजीके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए लिखते है कि उनकी वचनिकाओंको देखकर मेरी भी ऐसी बुद्धि हुई, जिससे मैं प्रमाण-शास्त्रका उत्कट रसास्वाद कर सका और अन्य दर्शन मुझे नीरस जान पड़े[2]।

२. समय :

पं० जयचन्दजीका समय सुनिश्चित है। इनकी प्रायः सभी कृतियों (वचनिकाओं)में उनका रचना-काल दिया हुआ है। जन्म वि० स० १७९५ और मृत्यु वि० स० १८८१–८२ के लगभग मानी जाती है[3]। रचनाओंके निर्माणका आरम्भ वि०स० १८५९ से होता है और वि०स० १८७४तक वह चलता है। प्राप्त रचनाएँ इन सोलह वर्षोंकी ही रची उपलब्ध होती

१ 'पं० जयचन्द और उनकी साहित्य-सेवा' शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष १३, कि० ७, पृ० १७१।

२ जयचन्द्र इति ख्यातो जयपुर्यामभूत्सुधी ।
दृष्ट्वा यस्याक्षरन्यास मादृशोऽपीदर्शी मति ॥१॥
यया प्रमाणशास्त्रस्य सस्वाद्य रसमुल्वणम् ।
नैयायिकादिसमया भासन्ते सुष्ठु नीरसा ॥२॥
—प्रमाणपरीक्षा-वचनिका अन्तिम प्रश०।

३. वीरवाणी (स्मारिका) वर्ष १८, अंक १३ पृ० ५० तथा ९५।

है। इससे मालूम होता है कि ग्यारह वर्षकी अवस्थासे लेकर चौंसठ वर्ष-की अवस्था तक अर्थात् तिरेपन वर्ष उन्होंने शास्त्रोंके गहरे पठन-पाठन एवं मननमें व्यतीत किये थे। और तदुपरान्त ही परिणत वयमें साहित्य-सृजन किया था। अत जयचन्दजीका अस्तित्व-समय विक्रम सं० १७९५–१८८२ है।

३. साहित्यिक कार्य :

इनकी मौलिक रचनाएँ और वचनिकाएँ दोनों प्रकारकी कृतियाँ उप-लब्ध हैं। पर अपेक्षाकृत वचनिकाएँ अधिक हैं। मौलिक रचनाओंमें उनके संस्कृत और हिन्दीमें रचे गये भजन ही उपलब्ध होते हैं, जो विभिन्न राग-रागिनियोंमें लिखे गये है और 'नयन' उपनामसे प्राप्त हैं। उनकी वे रचनाएँ निम्न प्रकार हैं —

(१) तत्त्वार्थसूत्र-वचनिका	वि० स० १८५९
(२) सर्वार्थसिद्धि-वचनिका★	चैत्रशुक्ला ५ सं० १८६१
(३) प्रमेयरत्नमाला-वचनिका★	आषाढ शु० ४ स० १८६३
(४) स्वामीकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा-वचनिका★	श्रावण कृ० ३ स० १८६३
(५) द्रव्यसग्रह-वचनिका★	श्रावण कृ० १४ स० १८६३
(६) समयसार-वचनिका★	कार्त्तिक कृ० १० स० १८६४
(आत्मख्याति सस्कृत-टीका सहित की)	
(७) देवागम (आप्तमीमांसा)-वचनिका	चैत्र कृ० १४वि०सं०१८६६
(८) अष्टपाहुड-वचनिका★	भाद्र शु० १२ स० १८६७
(९) ज्ञानार्णव-वचनिका★	माघ कृ० ५ स० १८६९
(१०) भक्तामरस्तोत्र-वचनिका	कार्तिक कृ० १२ स० १८७०

★ स्वयके हाथसे लिखी चिन्हाङ्कित ग्रन्थ-प्रतियाँ दि० जैन बड़ा मन्दिर, जयपुरमें उपलब्ध है।—वीर वाणी (स्मारिका) पृ० ९५।

(११) पदोकी पुस्तक [मौलिक]
(२४६ पदोका संग्रह) अषाढ शु० १० सं० १८७४
(१२) सामायिकपाठ-वचनिका
(१३) पत्रपरीक्षा-वचनिका
(१४) चन्द्रप्रभचरित्र-द्वितीयसर्ग-वचनिका
(१५) मतसमुच्चय-वचनिका
(१६) धन्यकुमारचरित-वचनिका

इन रचनाओका परिचय उनके नामसे ही विदित हो जाता है। अतः वह छोडा जाता है।

उपर्युक्त विवेचनसे नि सन्देह प्रकट है कि पण्डित जयचन्दजी छावडा विशिष्ट शास्त्राभ्यासी, बहुज्ञानी, सस्कृत-प्राकृत-हिन्दी भाषाओके ज्ञाता, हिन्दीगद्य-पद्यसाहित्यकार, प्रवक्ता, चारित्रवान्, भद्रपरिणामी और आध्यात्मिक विद्वान् थे। वे जैनदर्शनके साथ ही अन्य भारतीय दर्शनोके भी मर्मज्ञ थे। उनकी शासन-सेवा एव साहित्यिक कृतियाँ उन्हे चिरस्मरणीय रखेगी।

निवेदन

यद्यपि इस छोटे-से ग्रन्थपर लिखी गई यह प्रस्तावना पर्याप्त लम्बी हो गई है, तथापि उसमे दी गई महत्त्वपूर्ण सामग्रीमे उसका लम्बापन पाठको एव जिज्ञासुओको खटकेगा नही और उससे कितनी ही बातोकी जानकारी उन्हे एकत्र मिलेगी।

गुणी एव विशिष्ट विद्वानोसे निवेदन है कि इसमे तथ्योको प्रस्तुत करनेमे यदि कही विपर्यास या भूल जान पडे तो वे उसे ठीक कर लें तथा उसकी सूचना हमे देनेकी कृपा करें।

वर्णी-जयन्ती, वी० नि० स० २४९२, दरबारीलाल कोठिया
३, अक्तूबर, १९६६
चमेली-कुटीर
१।१२८, डुमरावबाग, अस्सी,
वाराणसी (उ० प्र०)

मुनिश्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित

पदार्थ-लक्षणकारिणो गाथाएँ

अर्थात्

लघुद्रव्यसंग्रह

[यह 'लघुद्रव्यसग्रह', जिसे ग्रन्थकर्त्ताद्वारा 'पदार्थलक्षण-कारिणी गाथाएं' कहा गया है, उन्ही आचार्य नेमिचन्द्रकी महत्त्व-पूर्ण कृति है, जिनका प्रस्तुत 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' है और जिसे श्रद्धेय प० जुगलकिशोरजी मुख्तारने श्रीमहावीरजी स्थित शास्त्र-भण्डारके एक सग्रह-ग्रन्थपरसे उपलब्ध करके अनेकान्त वर्ष १२ किरण ५ मे सन् १९५३ मे प्रकाशित किया था। लघु और बृहद् दोनो द्रव्यसग्रहोका एकत्र अध्ययनकी दृष्टिसे उसे वहाँ से उद्धृत करके यहाँ सक्षिप्त हिन्दी-रूपान्तरके साथ दिया जा रहा है। इसका विशेष परिचय प्रस्तावनामे दिया गया है। —सम्पा०]

छद्दव्व पच अत्थी सत्त वि तच्चाणि णव पयत्था य।
भंगुप्पाय-धुवत्ता णिद्दिट्ठा जेण सो जिणो जयउ ॥१॥

जीवो पुग्गल धम्माऽधम्मागासो तहेव कालो य।
दव्वाणि कालरहिया पदेश-बाहुल्लदोऽत्थिकाया य॥२॥

जीवाजीवासवबध संवरो णिज्जरा तहा मोक्खो।
तच्चाणि सत्त एदे सपुण्णपावा पयत्था य ॥३॥

जोवो होइ अमुत्तो सदेहमित्तो सचेयणो कत्ता।
भोत्ता सो पुण दुविहो सिद्धो संसारिओ णाणा ॥४॥

छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्व, और नव पदार्थ जिन्होंने निर्दिष्ट किये हैं और जिनमे व्यय, उत्पाद, और ध्रौव्य सतत होता रहता है वे जिनेन्द्र लोकका कल्याण करें ॥१॥

जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये छह द्रव्य है। और इनमें कालको छोडकर शेष पाच द्रव्य बहुप्रदेशी होनेके कारण अस्तिकाय हैं ॥२॥

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इन्ही सात तत्त्वोमे पुण्य तथा पापको मिलाने-पर नौ पदार्थ हैं। ॥३॥

जीवद्रव्य जीव है, अमूर्तिक है, अपने शरीरके बराबर है, चेतनावान है, कर्त्ता है और भोक्ता है। वह दो प्रकारका है। एक सिद्ध और दूसरा संसारी। और ये दोनो ही अनेकप्रकार के हैं। ॥४॥

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥५॥

वण्ण-रस-गंध-फासा विज्जंते जस्स जिणवरुद्दिट्ठा ।
मुत्तो पुग्गलकाओ पुढवीपहुदी हु सो सोढा ॥६॥

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय-कम्म-परमाणू ।
छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिंदेहिं ॥७॥

गइ-परि[ण]याण धम्मो पुग्गल-जीवाण गमण-सहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥८॥

ठाणजुयाण अहम्मो पुग्गल-जीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥९॥

अवगास-दाण-जोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागासं अलो(ल्लो)गागासमिदि दुविहं ॥१०॥

दव्वपरियट्टजादो जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
लोगागासपएसे एक्केक्काऽणू य परमट्ठो ॥११॥

जीव रसरहित, रूपरहित, गंधरहित, अवक्तव्य, चेतना-गुणवाला, शब्दरहित, हेतुओंसे ग्रहण न होनेवाला और निर्दिष्ट आकारसे रहित है ॥५॥

जिस द्रव्यमें वर्ण, रस, गंध और स्पर्श विद्यमान हैं, उसे जिनेन्द्रने मूर्तिक अथवा पुद्गलास्तिकाय कहा है। यह पुद्-गलास्तिकाय पृथ्वी आदिके भेदसे छह प्रकारका है ॥६॥

पुद्गलके पृथ्वी आदि छह भेद निम्न प्रकार हैं :—पृथ्वी जल, छाया, चारइन्द्रियोका विषय, कर्म और परमाणु। इस तरह जिनेन्द्र भगवान्ने पुद्गल द्रव्यको छह प्रकारका कहा है ॥७॥

गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंके गमनमे जो सह-कारी द्रव्य है वह धर्मद्रव्य है :—जैसे मछलियोके गमनमें जल सहकारी होता है। यह धर्मद्रव्य न चलते हुए जीव और पुद्गलों-को प्रेरणा करके नही चलाता है। ॥८॥

ठहर रहे पुद्गल और जीवोके ठहरनेमें जो सहकारी द्रव्य है वह अधर्मद्रव्य है :—जैसे पथिकोंके ठहरनेमे छाया। यह अधर्म-द्रव्य चलते हुए जीव पुद्गलोंको बलपूर्वक ठहराता नही है॥९॥

उक्त जीवादि द्रव्योको जो स्थान देनेमे समर्थ है उसे आकाश-द्रव्य जानना चाहिए। यह आकाशद्रव्य जिनेन्द्र भगवान्ने दो प्रकारका कहा है :—एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाश ॥१०॥

द्रव्योके परिवर्तनसे जो उत्पन्न होता है वह व्यवहारकाल है। तथा लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर जो एक-एक अणु अवस्थित है वह परमार्थकाल है ॥११॥

लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केका ।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥१२॥

संखातीदा जीवे धम्माऽधम्मे अणंत आयासे ।
संखादामंखादा मुत्ति पदेसा उ संति णो काले ॥१३॥

जावदियं आयासं अविभागी-पुग्गलाणु-वट्ठद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणु-ट्ठाण-दाणग्हिं ॥१४॥

जीवो णाणी पुग्गल-धम्माऽधम्मायासा तहेव कालो य ।
अज्जीवा जिण-भणिओ ण हु मण्णइ जो हु सो मिच्छो॥१५॥

मिच्छत्तं हिंसाई कसाय-जोगा य आसवो, बंधो ।
सकसाई जं जीवो परिगिण्हइ पोग्गलं विविहं ॥१६॥

मिच्छत्ताईचाओ संवर, जिण भणइ णिज्जरा देसो ।
कम्माण खओ, सो पुण अहिलसिओ अणहिलसियो य ॥१७॥

कम्मबंधण-बद्धस्य सब्भूदस्संतरप्पणो ।
सव्वकम्म-विणिम्मुक्को मोक्खो होइ जिणेडिदो ॥१८॥

उक्त परमार्थकाल लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक अणुके रूपमें उसी प्रकार अवस्थित है जिस प्रकार रत्नोंकी राशि परस्पर असम्बद्ध होकर स्थित होती है। ये सब कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं ॥१२॥

जीव, धर्म और अधर्म इन तीन द्रव्योंमे असंख्यात-असंख्यात प्रदेश हैं। आकाशमे अनन्त प्रदेश हैं। मूर्तिक अर्थात् पुद्गलमें संख्यात, असख्यांत और अनन्त तीनों प्रकारके प्रदेश हैं, पर काल-द्रव्यमे बहुत प्रदेश नही हैं—सिर्फ उसमें एक ही प्रदेश है ॥१३॥

आकाशके जितने क्षेत्रको एक अविभागी पुद्गल अणु रोके उसे प्रदेश जानना चाहिए। उसमे समस्त अणुओंको स्थान देने-की क्षमता है ॥१४॥

जीव ज्ञानी है अर्थात् ज्ञानवाला है, परन्तु पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच द्रव्य अजीव हैं अर्थात् ज्ञान-वाले नही है, ऐसा जिनेन्द्रने कहा है। जो इस प्रकार नही मानता है वह मिथ्यादृष्टि है ॥१५॥

मिथ्यात्व, हिसादि, कषाय और योग ये चार आस्रव हैं अर्थात् इनके द्वारा कर्मोका बन्ध होता है। तथा जीव सकषाय होकर जो विविध पुद्गलोको ग्रहण करता है वह बन्ध है ॥१६॥

मिथ्यात्व आदिका त्याग सवर है, ऐसा जिनेन्द्रने कहा है, तथा कर्मोंका एकदेश क्षय निर्जरा है,जो अभिलषित और अनभि-लषित सविपाक और अविपाक इन दो तरहकी होती है ॥१७॥

कर्मबन्धनसे बधे हुए सत्तात्मक अन्तरात्मा जीवके जो समस्त कर्मोंका नाश है उसे जिनेन्द्र भगवानने मोक्ष कहा है॥१८॥

सादाऽऽउ-णाम-गोदाणं पयडीओ सुहा हवे !
पुण्णं तित्थयरादी अण्ण पावं तु आगमे [भणियं] ॥१९॥

णासइ णर-पज्जाओ उपज्जइ देवपज्जओ तत्थ ।
जीवो स एव सव्वस्स भंगुप्पाया धुवा एवं ॥२०॥

उप्पादप्पद्धंसा वत्थूणं होंति पज्जयणाएण ।
दव्वट्ठिएण णिच्चा बोधव्वा सव्वजिणवुत्ता ॥२१॥

एवं अहिगयसुत्तो सट्ठाणजुदो मणो णिरुंभित्ता ।
छंडउ रायं रोसं जइ इच्छइ कम्मणो णासं ॥२२॥

विमएसु पवट्टंतं चित्तं धारेत्तु अप्पणो अप्पा ।
झायइ अप्पाणमिणं जो सो पावेइ खलु सेयं ॥२३॥

सम्मं जीवादीया णच्चा सम्मं सुकित्तिदा जेहिं ।
मोह-गय-केसरीणं णमो णमो ठाण साहूणं ॥२४॥

सोमच्छलेण रइया पयत्थ-लक्खणकराउ गाहाओ ।
भव्वुवयार-णिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचंदेण ॥२५॥

इति नेमिचंद्रसूरिकृतं लघुद्रव्यसंग्रहमिदं पूर्णम् ।



साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये शुभ प्रकृतियाँ पुण्य हैं और वे तीर्थंकर आदि हैं। इनसे भिन्न असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और अशुभ गोत्र ये पाप हैं, ऐसा आगममें कहा गया है ॥१९॥

हम देखते हैं कि मनुष्यपर्यायका नाश होता है और देव-पर्यायका उत्पाद होता है तथा उनमें जीवत्व विद्यमान रहता है इस तरह सभी वस्तुओंमें व्यय, उत्पाद और ध्रौव्य होता रहता है ॥२०॥

वस्तुओमे उत्पाद तथा व्यय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे होते हैं तथा ध्रौव्य द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे है। इस तरह सब वस्तुएँ उत्पादादित्रयात्मक सभी जिनेन्द्रोने कही हैं ॥२१॥

इसप्रकार आगमका अभ्यास करते हुए एवं अपनेमे स्थित रहते हुए मनको रोककर राग और द्वेषका त्याग करना चाहिए, इस तरहसे ही कर्मोंका नाश हो सकता है ॥२२॥

जो आत्मा पंचेन्द्रिय-विषयोंमे प्रवृत्त हो रहे अपने चित्तको रोककर आत्माद्वारा आत्माका ध्यान करता है वह निश्चय ही स्वरूपोपलब्धि करता है ॥२३॥

जिन वीतराग ऋषियोने जीवादि द्रव्योको सम्यक् प्रकार जानकर उनका यथार्थ कथन किया है उन्हें हमारा बारबार नमस्कार है ॥२४॥

'सोम'श्रेष्ठीके बहानेसे भव्यजीवोंका उपकार करनेके लिए गणी श्रीनेमिचन्द्रने पदार्थोंके लक्षण करनेवाली इन गाथाओंको रचा है। ॥२५॥

●

बृहद्द्रव्यसंग्रह

गाथा-पाठ

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं ।
देविंद-विंद-वंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥१॥

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥२॥

तिक्काले चउपाणा इंदिय बलमाउ आणपाणो य ।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ॥३॥

उवओगो दुवियप्पो दंसण णाणं च दंसणं चदुधा ।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥४॥

णाणं अट्ठ-वियप्पं मदि-सुद-ओही अणाण-णाणाणि ।
मणपज्जय केवलमवि पच्चक्ख-परोक्खभेयं च ॥५॥

अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीव-लक्खणं भणियं ।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥६॥

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे ।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥७॥

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥

ववहारा सुह-दुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥९॥
अणुगुरु-देह-पमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा ।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा ॥१०॥
पुढवि-जल-तेउ-वाउ व्वणप्फदी विविह-थावरेइंदी ।
विग-तिग-चदु पंचक्खा तसजीवा होंति संखादी॥११॥
समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे ।
वादर-सुहुमेइंदिय सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥१२॥
मग्गण-गुणठाणेहिं य चउदसहिं हवंति तह अशुद्धणया ।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥१३॥
णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवयेहिं संजुत्ता ॥१४॥
अज्जीवो पुण णेओ पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं ।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु ।१५।
सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया ।
उज्जोदादव-सहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥१६॥
गइ-परिणयाण धम्मो पुग्गल-जीवाण गमण-सहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥१७॥
ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गल-जीवाण ठाण-सहयारी ।
छाया जह पहियाणां गच्छंता णेव सो धरई ॥१८॥

अवगास-दाण-जोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागास अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥१९॥
धम्माधम्मा कालो पुग्गल-जीवा य संति जावदिये ।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो ॥२०॥
दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥२१॥
लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ठिया हु एक्किक्का ।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणु असंखदव्वाणि ॥२२॥
एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं ।
उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया य ॥२४॥
संति जदो तेणेदे अस्थि त्ति भणंति जिणवरा जम्हा ।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य ॥२३॥
होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे ।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥२५॥
एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि ।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हू ॥२६॥
जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥२७॥
आसवबंधणसंवरणिज्जरमोक्खा सपुण्णपावा जे ।
जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो ॥२८॥

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥२९॥
मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओऽथ विण्णेया ।
पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥३०॥
णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि ।
दव्वासवो स णेयो अणेयभेओ जिणक्खादो ॥३१॥
बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो ।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥३२॥
पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो ।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ।३३।
चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥३४॥
वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपिहा परीसहजओ य ।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥३५॥
जहकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण ।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥३६॥
सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो ।
णेओ स भावमोखो दव्वविमोक्खो य कम्मपुघभावो ॥३७॥
सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा ।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च ॥३८॥

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥३९॥
रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवियम्हि ।
तम्हा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥४०॥
जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ॥४१॥
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।
गहणं सम्मं णाणं सायारमणेयभेयं तु ॥४२॥
जं सामण्णं गहण भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे दसणमिदि भण्णए समये ॥४३॥
दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा ।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥४४॥
असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणिय ॥४५॥
बहिरब्भतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं ।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥४६॥
दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ।
तम्हा पयत्तचित्ता ज्रयं झाणं समब्भसह ॥४७॥
मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु ।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥४८॥

पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह ।
परमेट्ठि-वाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥४९॥
णट्ठ-चदुघाइकम्मो दंसण-सुह-णाण-वीरिय-मइओ ।
सुह-देहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥५०॥
णट्ठट्ठ-कम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा ।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोय-सिहरत्थो ॥५१॥
दंसण-णाण-पहाणे वीरिय-चारित्त-वरतवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ सो आइरिओ मुणी झेओ ॥५२॥
जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो ।
सो उवझाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥५३॥
दंसण-णाण-समग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥५४॥
जं किं चि वि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयं झाणं ॥५५॥
मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंचि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं ॥५६॥
तव-सुद-वदवं चेदा झाण-रह-धुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तिय-णिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥५७॥
दव्वसंगहमिणं मुणिणहा दोस-संचय-चुदा सुद-पुण्णा ।
सोधयंतु तणु-सुत्त-धरेण णेमिचंदमुणिणा भणियं जं ॥५८॥

•

विषय-सूची

शुद्धि-पत्र

पृ०	प०	अशुद्ध	शुद्ध
६	१६	प्रतियां	प्रतियो
११	१४	हासिमो	हासियो
११	२२	अन्तिक	अन्तिम
१६	१	बौद्धदर्शनमें	बौद्धदर्शनमे
१६	१८	१ (आ)	४. (आ)
२३	१७	(पृ० २०)	(पृ० २९०)
३६	५	उल्लिखित	उल्लेखित
५८	५	पुठवी	पुढवी
६६	११	अस्थि	अत्थि
६६	११	णण	णाण
६६	१४	लद्धण	लद्घूण
६९	१६	मुणिणहा	मुणिणाहा
१० (मूलग्रन्थ)	१३	विशेष	विशेषण
२६	२०	इन्द्रिगोचर	इन्द्रियगोचर
४३	१८	दोऊ विश्रेषी	दावि श्रेणी
४४	१५	मोहरूपका	मोहरूप कालिमा
७५	३	भाषा-छद	भाषा छद
८२	२	जोवस्याजीवस्योचो-	जीवस्याजीवस्य चो-
९६	६	ब्रह्मनेमिदत्त	ब्रह्मदेव
६६	७	अधिककार	अधिकार
११४	२	सिद्धादु	ते सिद्धा
११५	२३	काव्य	काय
११९	१	द्विविक्षमोघ	द्विविधमोक्ष
१२०	२	वर्त्तसे	वर्त्तते
१२०	४	न्यात्रा-	न्यत्रा-
१३६	३	मिने	नेमि

पण्डितप्रवर जयचन्दजीकृत

देशवचनिका व पद्यानुवादसहित

आचार्य नेमिचन्द्रप्रणीत

द्रव्य-संग्रह

ओम् नमः सिद्धम् ।

अथ द्रव्यसंग्रह ग्रन्थकी वचनिका लिखिये है ।

दोहा—आदि ऋषभ सनमति चरम, दोयवीस मधि एम ।
तीर्थंकर चौवीसकूं, वंदो धरि मन पेम ॥ १ ॥

सवैया तेईसा—

मोहि विडारि सुसयम धारि महातप पारि भये सब वेत्ता ।
भूमि विहारि सुवानि उचारि रु भव्यनि तारि कहाय जु नेता ॥
योग संवारि अघाति निवारि रु मोक्ष पधारि भये विधिजेता ।
एम विचारि नमूं मद छारि सुमंगलकार जिनेश्वर एता ॥ २ ॥

दोहा—देव-धर्म-गुरु-जिन-वचन, मन-वच-तन करि वंदि ।
करूं द्रव्यसंग्रहतणी, देशवचनिका नंदि ॥ ३ ॥

आसै इष्टके नमस्काररूप मंगल करि 'द्रव्यसंग्रह' नामा ग्रन्थकी प्राकृत गाथानिकी संक्षेप अर्थरूप देश-भाषामय वचनिका लिखिये है ।

तहाँ श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ति आचार्य इस ग्रन्थका कर्ता कहु शिष्यके समझावनेके मिस करि, जातैं सर्व जीवनिका मिथ्यात टूटै, ऐसा षट् द्रव्य, पचास्तिकाय, सप्त-तत्त्व, नव-पदार्थनिका संक्षेप स्वरूप अर इनका श्रद्धान, ज्ञान, आचरणका एकतारूप मोक्षमार्ग अर चारित्र ही मैं अतर्भूत जो साक्षात् मोक्ष-का कारण ध्यान-तप ताका संक्षेप स्वरूपका वर्णन जामैं पाईए, ऐसा 'द्रव्यसंग्रह' नामा ग्रन्थ प्रमाण, नय, निक्षेपनिका स्वरूप मनमै धारि रच्या है।

ताकी वचनिका मै लिखू हु। सो भव्य जीव वाचियो, पढियो अर यामै कहूँ ही नुनाधिक अर्थ लिख्या होय तो पंडत-जन सोधियो मेरी अल्प बुद्धि जाणि हसियो मति। सत्पुरुषनिका एही स्वभाव है। दोष देखि हास्य न करै, गुणका ग्रहण करै। तहाँ प्रमाण, नय, निक्षेपका विशेष स्वरूप तो इनके प्रकरणके ग्रन्थ हैं, तिनि तैं जाणू। इनिका संक्षेप ऐसा—जो प्रमाण तौ जा करि यथार्थ पदार्थका निश्चय होय, ऐसा ज्ञान है। सो अनेकधर्मस्वरूप वस्तु एक काल सर्व धर्म सहित जाणै है। सो अनेक धर्म [रूप] वस्तु याका विषय है।

बहुरि याके प्रत्यक्ष, परोक्ष ए दोय भेद हैं। तहाँ मति, श्रुति [त] ज्ञान तौ परोक्ष परमाण है। अर अवधि, मनपर्यय, केवल ज्ञान ए प्रत्यक्ष प्रमाण है। बहुरि मतिज्ञान रूप साक्षात् इन्द्रिय, मन तै भये ज्ञानकू व्यवहार अपेक्षा प्रत्यक्ष भी कहिये है। जातैं छद्मस्थकै तौ इस हीकै द्वारै वस्तुकी प्रतीति होय है। अर इस सिवाय मति [पूर्वक] श्रुति [त] ज्ञान है सो परोक्ष है। दूरि क्षेत्र-

कालवर्ती वस्तुकी प्रमाणता अनुमान, आगमकै द्वारै होय है। तहाँ परार्थानुमान अर आगमका ज्ञान गुरु निमित्त बिना निःसन्देह होय [नाहीं] तहाँ है।

बहुरि प्रमाणका फल है, सो अज्ञानका मिटना, हेय-उपादेयका जानना, वीतरागताका होना ए है। बहुरि नय है, ते वस्तुके एक धर्मकूं ग्रहण करै है। जे परस्पर धर्मनिकूं अपेक्षा सहित साधै हैं ते सुनय हैं। सर्वथा एक धर्म ही कूं परमार्थरूप वस्तु कहैं, अपेक्षा न राखैं ते कुनय हैं। मिथ्या हैं। तहाँ वस्तु द्रव्य-पर्याय स्वरूप है। सो सर्व धर्मनिकी एकता सो तो द्रव्य है। सो याकू अपना विषय करै सो तौ द्रव्यार्थिक नय है।

बहुरि याके गुणपर्याय रूप अनेक धर्म तिनकूं भेदरूप न्यारे-न्यारे ग्रहण करै, सो पर्यायार्थिक नय है। इनके भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार है। ते तौ द्रव्यार्थिकके भेद हैं। अर ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवभूत ये पर्यायार्थिकके भेद हैं। इनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी टीकातैं जानना। बहुरि इनके भेद करते जाई-ए तब जेते वचनके प्रकार हैं, तेते ही भेद होय हैं। सो ए सर्व नय श्रुतज्ञान-प्रमाणके भेद जानने। श्रुतज्ञान है सो द्रव्यश्रुत जो द्वादशाग वचनस्वरूप शास्त्र ताके निमित्ततैं होय है। सो ताके जे भेद होय है तेते ही नय हैं। ए सर्व ही नय वस्तुकूं सत्यार्थ साधै हैं। तातैं सर्व ही निश्चय स्वरूप कहिए। तहाँ वस्तुकूं द्रव्यदृष्टि करि अभेदरूप नित्य एक शुद्ध ही कहै सो तो शुद्ध निश्चय है।

बहुरि पर्यायदृष्टि करि भेदरूप अनित्य अनेक अशुद्ध कहै,

सो अशुद्ध निश्चय है। बहुरि इनकूं प्रयोजनके वशतैं मुख्य, गौण करिये तब मुख्यकूं तौ निश्चय कहिये। अर गौणकूं व्यवहार कहिये, तिसकूं उपचार भी कहिये। असत्यार्थ भी कहिये। उपनय भी कहिये। सद्भूतव्यवहार भी कहिये। जैसैं अध्यात्म भाषा करि कहिये, तब वस्तुकूं शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय करि अभेद, एक, नित्य, शुद्ध कहिये। तिस अपेक्षा आत्माका आसाधारण धर्म चेतनता ग्रहण करि एकरूप, अभेद, शुद्ध, नित्य कहिये। या चेतना मैं परके निमित्ततैं मतिज्ञानादिक तथा रागादिक तथा नारक आदि अनेक भेद होय हैं। ते सर्व व्यवहार हैं। असत्यार्थ है। उपचार हैं। जातैं अभेददृष्टिकी मुख्यतामैं भेद गौण भये। सो अभेदकू भेदरूप कहना सो तौ असत्यार्थ ही है। याकूं सद्भूत-व्यवहार कहिये। जातैं जीवके सत् ही मैं ये पर्याय हैं। तिनकूं गौण कीये तातैं व्यवहाररूप हैं।

इहा प्रयोजन ऐसा जो ससारी जीवकूं आत्माका स्वरूप जनावना है। सो याकै पर्यायबुद्धि है। यह जैसी पर्यायमै तिष्ठै तिस ही विषै आपा मानै है। तातैं भेदरूप अनेक भेदकी तौ याके मान्यता है ही, ताकूं गौणकरि आत्माका ऐसा भाव कहनां जो अनादि, अनत, नित्य, शुद्ध, एकरूप होय। तातैं चेतनता दर्शनज्ञानविशेषनिरूप सामान्यमात्र है। सो सत्यार्थ है। ऐसैं अरू अभेदकूं सत्यार्थ कहना तब भेदबुद्धि कटै। अभेदकी श्रद्धा आवै। ऐसा ज्ञान होय है, जो परजनित मेरे भाव हैं ते सर्व उपाधि है, मैं तो अनादि अनन्त एक शुद्ध चेतनारूप हौं।

बहुरि याकू ऐसी भी जनावै हैं। जो भेदरूप है ते भी आत्मा

के ही परिणाम हैं। परन्तु अज्ञानतैं परनिमित्ततैं होय हैं। ऐसा नांहीं कि ए कछु भी नांही, अवस्तुरूप हैं। जातैं सर्वथा शुद्ध अभेद ही का एकान्त करि आपाकूं शुद्ध ही मानि श्रद्धान करै तौ शुद्ध करनेके उपाय तैं विमुख होय तब मिथ्यात्व लग्या रहै। तातैं शुद्ध नयकै अशुद्ध नयकी सापेक्षा राखै तब शुद्धनयरूप श्रद्धान होय सो ही सम्यक्ज्ञानका अंश है। सर्वथा एकान्त मिथ्याज्ञान है। ऐसी ही वस्तुकै अन्य वस्तुका निमित्तनैमित्तक-भाव तथा आधाराधेयभाव आदि बाह्य देखि प्रयोजनके वशतैं अन्य वस्तुका अन्य वस्तु विषै आरोपण कीजे सो भी उपचार है। याकूं उपनय कहिये तथा असद्भूत व्यवहार भी कहियै, असत्यार्थ भी कहिये। ऐसैं प्रयोजनके वशतैं नयनि विषै मुख्य, गौणकी प्रवृत्ति है।

बहुरि एक वस्तुमैं अनेक धर्म कहनेतैं सर्वथा एकान्तके अभिप्रायतैं विरोध दीखै है। ताके मेटनेकूं विधिनिषेधकरि वचनके सात भंग होय है। तिनकै 'स्यात्' पद लगाये विरोधका परिहार होय है। 'स्यात्' नाम कथंचित्का है। धर्मकै कोई प्रकार की विवक्षाकूं यह जनावै है। सो ऐसैं नयनिकै सापेक्ष होतै सर्व विरोध आदि दूषण मिटै है। सो प्रमाणकै तो एक वस्तुकै अन्य वस्तुका विधि-निषेधतैं सप्तभग होय है। अर नयनिकै अन्य नयनिके विषयनिके विधि-निषेधतै सप्तभंग होय है। जातैं ऐसैं कह्या है। जो वस्तुका सर्वधर्मनिकूं अभेदवृत्ति, अभेदउपचार करि सकलादेश करै सो तौ प्रमाण है। अर वस्तुका एकधर्मकूं भेद-वृत्ति, भेदउपचार करि कहै सो विकलादेश है। सो नय है।

बहुरि निक्षेप है। सो वस्तुका लोकव्यवहार अपेक्षा चारि प्रकार हो है। नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव। सो इहां 'द्रव्यसंग्रह' ग्रन्थ विषै जहां-तहां निश्चय व्यवहार कहते गए हैं। सो तहां नयनिका विषय कह्या तैसा जानना।

बहुरि निक्षेप इहा द्रव्य तथा पदार्थनिका भावनिक्षेपरूप कथन जानना। नाम, स्थापना, द्रव्यनिक्षेपका इहां प्रयोजन नाही।

बहुरि भावनिक्षेप भी दोय प्रकार है। तिनमैं भी इहा नोआगमभावरूप द्रव्य वा पदार्थ जानने। आगमभावनिक्षेपका इहां प्रयोजन नाही। जातैं जीव आदिके स्वरूपका शास्त्र जानै ताका ज्ञान तिसकै आकार होय। ता पुरुषकूं जीवका आगमभावनिक्षेप कहियै। सो ताके कहनेका इहां प्रयोजन नाही। इहा तौ पदार्थनि ही का स्वरूप कहिए, पदार्थकूं जनावनेका प्रयोजन है। पदार्थ तीन प्रकार कहिए है। शब्दरूप, ज्ञानके आकाररूप, अर्थरूप। सो इहा शब्द अर ज्ञान कहनेका प्रयोजन प्रधान नाही, अर्थ प्रधान है। ताकूं तो आगमभावनिक्षेपरूप कहियै। अर शब्दकूं अर ज्ञानकूं भी जानियैगा परन्तु इहा तिनका निक्षेप नाही।

बहुरि ऐसैं जानना। जो प्रमाण, नय, निक्षेपकू जाने बिना पदार्थ यथार्थ सधै नाही। जे साधनेका मन करै है, तिनकै यथार्थ वस्तुस्वरूप नाही सधै है। तातैं इनकूं जाने बिना जो वस्तुके स्वरूपकू साधनेका अधिकार बणै है सो अज्ञान है। स्वरूपका विपर्यय करै है, ऐसैं जानना।

आगैं या ग्रन्थकी पीठका ऐसी जो यामै तीन अधिकार है। तहां प्रथम तो षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय प्ररूपणका अधिकार है ताकी

सत्ताईस गाथा हैं। तहां चौदह गाथा ताईं तौ जीव द्रव्यका कथन है। पीछै आठ गाथामैं अजीव द्रव्यका कथन है। पीछै पांच गाथामैं पंचास्तिकायका प्ररूपण है।

बहुरि पहिलै चौदह गाथामैं आदि गाथा तौ मगल अर्थि है। बहुरि दूसरी गाथा जीवका नव अधिकारकी संज्ञाका संग्रहरूप है। बहुरि पीछै बारह गाथामैं जीवके नव अधिकारनिका विवरण है। बहुरि आगै ग्यारह गाथामैं सप्त तत्त्व, नव पदार्थ, निका वर्णनरूप दूसरा अधिकार है। बहुरि आगैं बीस गाथामैं मोक्षमार्गका वर्णनरूप तीसरा अधिकार है। तहां आठ गाथामैं तौ पहली निश्चय व्यवहाररूप मोक्षमार्गका प्ररूपण है। पीछै ग्यारह गाथामैं ध्यानका व्याख्यान है।

बहुरि एक स्वागता छन्द प्राकृतरूपमैं आचार्य अपनी लघुता करी है। ऐसै सर्व गाथावृत्त अठावनमैं ग्रन्थ समाप्त कीया है। इहाँ ऐसा जाननां जो थोरे हीमैं बहुत अर्थ जनाया है। सो भव्य जीवनिके पढने-सुनने योग्य है। यातैं जिन मतकी श्रद्धा दृढ होय है।

आगैं प्रथम गाथाकी व्याख्या लिखिये है।

गाथा :

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंद-विंद-वंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥१॥

याका अर्थ :—जिस जिनवर वृषभनै जीव अर अजीव द्रव्य

कहे तिसकूं मैं ग्रन्थकर्ता मस्तक करि सदा काल नमस्कार करूं हू। कैसे हैं वे देवनिके इन्द्रनिका समूह ता करि वंदिवे योग्य हैं।

भावार्थ—इहां श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ति मंगलकै अर्थि इष्टकूं नमस्कार कीया है। तहां कर्मसत्रुकूं जीतैं सो जिन सो गुणश्रेणीनिर्जराकरि सहित होय तिन सर्व ही कू 'जिन' सज्ञा है। तिनमै वर कहिये श्रेष्ठ असे गणधरादिक तिनमैं वृषभ कहिये प्रधान जे तीर्थंकर परमदेव तथा वृषभ कहियै प्रथम तीर्थङ्कर श्रीआदिदेव तिनकूं नमस्कार है।

बहुरि जीव, अजीव द्रव्य 'जिनिनै' कहे। अैसा विशेषण कीया। सो जीव, अजीव द्रव्यका प्ररूपणका ग्रन्थ करै है। सो पूर्वै जिननै कहे है। ते ही कहै है। कल्पित नाही कहै है। अैसा अभिप्राय है।

बहुरि ते भगवान् इन्द्रनिकरि वंदनीक हैं। इस विशेषण तैं अैसा जनाया है जो त्रैलोक्य करि वदिने योग्य है, सो ही देव है। अन्य दोषनि सहित संसारी देव है ते वंदने योग्य नाही है। बहुरि मस्तककरि नमस्कार करने तै अैसा जनाया है जो अगनिमै उत्तम अंग मस्तक ही है। इस करि नमने तै अन्य अगका भी नमस्कार आया। बहुरि वंदे अैसा कहने करि आप नमस्कार कीया। तब मन अर वचन आय ही गये। सो मनकै द्वारै अपना उपयोग भी याही मैं आय गया सो द्रव्य-भावरूप नमस्कार भया। इहा इन्द्रनिकी उक्तच गाथा—

भवणालय-चालीसा विंतर देवाण हुंति बत्तीसा।
कप्पामर-चउवीसा चन्दो सूरो णरो तिरिऊ॥१॥

याका अर्थ :—भवनवासी देव दश जातिके है। तिनकै दोय दोय इन्द्र है, दोय दोय प्रतीन्द्र है, सो चालीस इन्द्र है। बहुरि तैसै ही आठ जातिके व्यन्तर देव है। तिनके बत्तीस इन्द्र है। बहुरि कल्पवासी देवनिके सोलह स्वर्गनिमै बारह इन्द्र है। बारह प्रतीन्द्र है। असे चौबीस इन्द्र है। बहुरि ज्योतिषीनिके चन्द्रमा, सूर्य अर मनुष्यनिका चक्रवर्त्ति अर तिर्यंचनिका सिंह। असैं सब मिल सौ भये। तिनकरि श्रीतीर्थंकर परमदेव पूजनीक है। वंदिने योग्य है।

बहुरि ग्रन्थकी आदि विषै संबध, अभिधेय अर प्रयोजन ये तीन भी जनाये चाहिये। सो संबंध तौ शास्त्रकै अरू अर्थकै वाच्य-वाचकलक्षण है ही। बहुरि अभिधेय जीव, अजीव पदार्थ है ही। बहुरि प्रयोजन इस शास्त्रतैं जीव, अजीव आदि पदार्थका ज्ञान होयगा। असै जाननां ॥छ॥

आगै जीवद्रव्यका नव अधिकार करि वर्णन करै है। तहां नव अधिकारनिके नाम कहै है।

गाथा :

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥२॥

याका अर्थ.—जीव है। उपयोगमयी है। अमूर्त्तीक है। कर्ता है। अपनी देहकै परिमाण है। भोक्ता है। संसारमैं तिष्ठै है। सिद्ध है। स्वाभाविक परिणाम करि उद्र्ध्वगति स्वभाव है सो जीव द्रव्य है ॥६॥

भावार्थः—अैसे ये नव अधिकार है। तहां प्राणनि करि जीवै सो जीव है। इस विशेषण करि जीवकूं नाही मानै है, अैसे चार्वाक मतका परिहार किया। बहुरि देखना, जाननारूप उपयोगमई है। इस विशेषण करि ज्ञान जीवके भेद मानैं, अैसे नैयायिक, वैशेषिक मतका परिहार है। बहुरि अमूर्त्तीक—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द करि रहित है। इस विशेषण करि भट्ट (कुमारिल) मतवाले मूर्तीक मानै है, तिनका परिहार भया। बहुरि कर्मका कर्ता है। इस विशेषण करि साख्यमती अकर्ता मानै है, तिसका परिहार भया। बहुरि अपनी देहपरिमाण है। इस विशेषणकरि नैयायिक, मीमासक, साख्यमती सर्वव्यापक तथा अणुमात्र मानै है, तिनका परिहार भया। बहुरि कर्मफलका भोक्ता है। इस विशेषकरि साख्यमती भोक्ता नांही मानै है तथा बोधमती करै और, भोगवै और, अैसैं मानै है, ताका निषेध भया। वहुरि ससारी है। इस विशेषणकरि सदामुक्त मानै है, अैसैं साख्यमतको भेद शिवमतका निराकरण भया। बहुरि कर्मरहित होय सिद्ध होय है। इस विशेषण करि भट्टमत मीमासकमतका भेद है, सो मुक्त होना न मानै है, ताका निषेध है। वहुरि कर्म तैं रहित होय उर्ध्वगमन करि लोक उपरि तिष्ठै है। इस विशेषणकरि मडली मतवालेका निषेध है। अैसा जीवका स्वरूप जैनके आगममैं कह्या है। इन विशेषणनिकूं नयविभाग करि निश्चय-व्यवहाररूप व्याख्यान करि न्यारान्यारा आगै कहसी ॥२॥

अब प्रथम ही जीवका व्याख्यान करै है।

गाथा :

तिकाले चउपाणा इंदिय बलमाउ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ॥३॥

अर्थ :—तीनकाल विषै जाकै इन्द्रियप्राण, बलप्राण, आयु-प्राण, श्वासोछ्वास ए चारि प्राण होय सो व्यवहारनय तैं जीव कहिए, बहुरि तीन काल विषै जाकै चेतना प्राण है, सो निश्चय-नय तैं जीव कहिये ॥छ॥

भावार्थ :—इहा जीव कह्या सो जीव अैसा प्राणधारण अर्थ विषै धातु है, सो व्यवहारनय करि इन्द्रियादिक प्राण कहे। तहां व्यवहार दोय प्रकार है। सद्भूत, असद्भूत। तहां जीवके प्रदेशनिका अर उपयोगका भेद जो कायका छोटा-बड़ा-पणा। अर इन्द्रियज्ञानका क्षयोपशम भेद ये तो भावप्राण है। तिनकरि जीव कहना सो तौ सद्भूत व्यवहार है।

बहुरि पुद्गलमयी द्रव्यप्राण शरीर, इन्द्रियनिकरि जीव कहना, सो असद्भूत उपचार व्यवहार है। बहुरि निश्चय-प्राण चेतना कह्या सो निश्चय भी दोय प्रकार है। तहा शुद्धनिश्चय तौ चेतना अभेदरूप नित्य शुद्ध एक है। तिस करि जीव कहनां अर अशुद्धनिश्चय चेतनाके विकार परनिमित्तैं भये मतिज्ञा-नादिक अर रागादिक तिनकरि जीव कहना सो है। सो यह ही सद्भूत व्यवहार भी है। सो अध्यात्म-भाषा करि याकू भी व्यवहारमै मिलावै है। अैसैं नय-विभाग है। इन नयनिके विष-

यकूं सर्वकूं एकै काल प्रधान करि मानौ सो प्रमाण ज्ञान है। तहां केवलज्ञान तौ प्रत्यक्ष एकै काल जानै है। अर छद्मस्थ श्रुत-ज्ञान करि जानै है। तहां एक नयकै दूसरी सापेक्षकूं जनावन-हारा 'स्यात्'पद है। कोई प्रकार करि यह नय है। तैसैं दूसरी नय है। अैसैं अभिप्राय होनेतैं सर्वनयका विषय एककाल यामैं भी आया, अैसे जानना ॥ छ ॥

आगै उपयोगमयका व्याख्यान तीन गाथा करि कहै है। तहां प्रथम उपयोगके भेद तथा दर्शनके भेद कहै है।

गाथा .

उवओगो दुवियप्पो दसण णाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥४॥

अर्थ —उपयोग है सो दोय भेदरूप है। दर्शनोपयोग, ज्ञानो-पयोग। तहा दर्शनोपयोग च्यारि प्रकार है। चक्षुदर्शनोपयोग, अचक्षुदर्शनोपयोग, अवधिदर्शनोपयोग, केवलदर्शनोपयोग। अैसै जानना ॥ छ ॥

भावार्थ —उपयोग नाम आत्मा जाकरि ज्ञेय पदार्थतै सम्मुख होय जुडै ताका है। सो दर्शन, ज्ञान भेद करि दोय प्रकार है। तहां दर्शनावरणकर्मके क्षयोपशम तथा क्षयतै भई जो आत्माकै पदार्थके सत्तामान्यकू देखनेकी शक्ति ताकू होतै पदार्थतै देखनेरूप प्रवर्त्तै। सो तौ दर्शनोपयोग है। बहुरि ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशम तथा क्षयतै भई जो पदार्थकू आकारविशेषरूप जाननेकी शक्ति ताके होतैं पदार्थकै सम्मुख होय, तहाका रहेना सो ज्ञानोपयोग है।

तहां दर्शनोपयोग च्यारि प्रकार कह्या। सो नेत्रइन्द्रियकै द्वारै क्षयोपशमके विशेषतैं देखना सो चक्षुदर्शन है। बहुरि अन्य इन्द्रियनिकै द्वारै होय प्रवर्त्तै सो अचक्षुदर्शन है। बहुरि अवधिदर्शनावरणके क्षयोपशमतैं पदार्थकूं सतसूं साक्षात् जुडै, सो अवधिदर्शन है। बहुरि केवलदर्शनावरणके क्षयतैं सर्व पदार्थके सत्तैं साक्षात् जुडै सो केवलदर्शन है ॥ छ ॥

अब ज्ञानके भेद कहै हैं।

गाथाः

णाणं अट्ठ-वियप्पं मदि-सुद-ओही अणाण-णाणाणि।
मणपज्जय केवलमवि पच्चक्ख-परोक्खभेयं च ॥५॥

अर्थ.—ज्ञान है सो आठ भेदरूप है। मति, श्रुति (त), अवधि, ए तीन तौ अज्ञान हैं अर ज्ञान भी हैं, ऐसैं छह भये। बहुरि मनःपर्ययज्ञान अर केवलज्ञान ऐसैं आठ भये। इनमैं प्रत्यक्ष अर परोक्षका भेद है ॥ छ ॥

भावार्थः—ज्ञानोपयोगके आठ भेद कहे। तिनमैं मति, श्रुति (त) अवधि ए तीन अज्ञान तौ मिथ्याद्रष्टी जीवकै मिथ्यात्वकर्मके उदय तैं प्रवर्त्तैं हैं। अर एही तीनू सम्यक्द्रष्टीकै सम्यक्ज्ञान कहियै। तहा पांच इन्द्रिय अर मन इनकै द्वारै दर्शनकै पीछै साकाररूप पदार्थकूं जानै सो मतिज्ञानोपयोग है। सो मतिज्ञानावरणीयकर्मके क्षयोपशमतैं जाननेकी सामर्थ्यरूप लब्धि होय। ताके निमित्ततैं पदार्थतैं जुडै। तब उपयोग कह्या ऐसैं तो मतिज्ञानोपयोग है। ऐसै ही श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमतैं

अक्षररूप जाननेंकी शक्तितैं प्रवर्त्तै सो श्रुतज्ञानोपयोग है। तहां जो अन्य इन्द्रियनिकै द्वारै एकेद्रियादिककै प्रवर्त्तै है। सो तो प्रमाणकी कथनीमैं ग्राह्य नाही है। अर श्रोत्र इन्द्रियकै द्वारै शब्दश्रवणरूप मतिज्ञानकै पीछै अक्षरके अर्थ जाननेंरूप मनकै द्वारै प्रवर्त्तै, सो प्रमाण-कथनीमै ग्राह्या है।

बहुरि अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमतैं रूपी पदार्थकूं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादा लीये प्रत्यक्ष जाननेकी शक्ति होतैं पदार्थसू जुडै सो अवधिज्ञानोपयोग है।

बहुरि मनःपर्ययज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमतैं परके मन विषै तिष्ठते पदार्थकूं जाननेंकी शक्ति होतैं परके मन विषै तिष्ठते पदार्थतै प्रत्यक्षपणै जुडै, सो मनपर्ययज्ञानोपयोग है।

बहुरि केवलज्ञानावरणकर्मका क्षय होतैं, सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके पदार्थनिकूं जाननेकी शक्ति होय करि सर्वकूं प्रत्यक्ष एकै काल जानै सो केवलज्ञानोपयोग है। ऐसैं ए आठ ज्ञान कहे। तिनमै मति, श्रुति (त) ज्ञान तौ परोक्ष हैं। अर अवधि, मन.पर्यय, केवल ए तीन प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। सो ही कह्या है :—

उक्तञ्च गाथा :

> मइसुय परोक्खणाणं ओही मण होइ वियलपच्चक्खं।
> केवलणाण च तहा अणोवमं होइ सयलपच्चक्खं ।।२।।

याका अर्थ —मति, श्रुति (त) ज्ञान तौ परोक्ष हैं। बहुरि अवधि, मनःपर्यय विकलप्रत्यक्ष हैं। सर्व क्षेत्र-कालकी जानै

नांही। तातैं घाटि हैं। बहुरि केवलज्ञान है सो सकलप्रत्यक्ष है। अनुपम है। याकी बराबरि अन्य नांही ॥छ॥

बहुरि तर्कशास्त्रनिमैं इन्द्रिय, मन द्वारे साक्षात् मतिज्ञान होय ताकूं सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कह्या है। जातैं जिनकैं मति, श्रुति (त) ज्ञान ही है तिनकै तौ इस इन्द्रिय, मनके ही तैं पदार्थके विषै इतबार है। तातैं याहीकै द्वारै पदार्थका निश्चय करै है। याही कै द्वारै मनप्रत्यक्षरूप स्वसंवेदनतैं ज्ञान, सुख, दुख आदितैं आत्माका निश्चय करै है।

बहुरि जे आत्माके सूक्ष्म भाव केवलज्ञानगम्य हैं। तिनका केवलीकै वचन तैं श्रुतज्ञानतै आज्ञाप्रमाण करि निश्चय होय है। तथा दृष्ट चिह्नतैं अदृष्टका निश्चयरूप अनुमान भी प्रवर्त्तै है। सो भी आज्ञा अनुसार ही प्रमाण है। तातै प्र(पर)-मार्थ तै मतिज्ञान भी परोक्ष ही कह्या है ॥छ॥

अब इस उपयोगकूं जीवका लक्षण नयविभाग करि कहै है।

गाथा :

अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥६॥

अर्थ :—आठ ज्ञान, च्यारि दर्शन ए सामान्य जीवका लक्षण व्यवहारनयतै कह्या है। बहुरि शुद्धनिश्चयनयतैं शुद्ध दर्शन अर शुद्ध ज्ञान है ॥छ॥

भावार्थ :—जीवका लक्षण आठ ज्ञान, च्यारि दर्शन भेदरूप

कहे, सो अशुद्धनिश्चयनयस्वरूप जो सद्भूतव्यवहार ता करि कह्या है। बहुरि शुद्धनिश्चयनय जो केवल अभेदरूप दर्शन-ज्ञानका ग्रहण करनेवाला ता करि शुद्ध दर्शन-ज्ञान उपयोग लक्षण कह्या। इहां शुद्ध दर्शन-ज्ञान कहनेतै ज्ञानके उपयोगमैं रागादिकका भी उपयुक्तपणातैं अशुद्धता आवै है सो भी न लेणी ॥छा॥

आगै अमूर्त्त विशेषणका निरूपण करै है।

गाथा :

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥७॥

अर्थ :—वर्ण पाच—श्वेत, पीत, हरित, रक्त, कृष्ण। रस पांच—तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, मधुर। गन्ध दोय—सुगंध, दुर्गन्ध। स्पर्श आठ—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मदु (मृदु), कर्कश, गुरु, लघु। ए पुद्गलद्रव्यके गुण है ते निश्चयनयतैं जीव विषै नाही हैं। तातैं अमूर्त्तीक है। बहुरि व्यवहारनयतैं जीवकूं कर्मके बन्धतैं मूर्त्तीक भी कहिये।

भावार्थः—निश्चयनय तौ शुद्ध अशुद्ध तिनकरि तौ जीव अमूर्त्तीक है। तथा अशुद्ध निश्चय परनिमित्ततैं भी प्रवर्त्तं (तैं) है। ताकूं सद्भूतव्यवहार भी कहिये है। याकी अपेक्षातैं मूर्त्तीक भी कहिये। इन्द्रिय, मनके ज्ञान तथा रागादिक मानसप्रत्यक्ष करि ग्रहण होय हैं। तातैं ते अध्यात्ममैं मूर्त्तीक भी कहै हैं।

बहुरि असद्भूतव्यवहारनयकरि संसार विषै तिष्ठता कर्म-बन्धका संयोगकरि मूर्तीक कहिये। जातैं छद्मस्थकै अमूर्तीक-पणा तौ इन्द्रियोचर नाही। अर देहसहित जीव इन्द्रियगोचर है। सो याकूं जीव न कहिये तौ छद्मस्थकै जीवका ज्ञान कैसैं होय। तथा देह सहित जीव न मानै तौ जीवनिकी दयारूप व्यवहार-चारित्र कैसैं पलै। तातैं व्यवहारनयकरि मूर्तीक माननां युक्त है। बहुरि दोउ नयकी दृष्टि प्रमाणदृष्टि है। सर्वथा एकान्त मिथ्यादृष्टि है, ऐसैं जानना ॥७॥

आगै कर्त्ता विशेषणका व्याख्यान करै है।

गाथा .

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥

अर्थ —आत्मा है सो व्यवहारनयतैं पुद्गलकर्म जे ज्ञाना-वरणादिक अर आदिशब्दकरि नोकर्म देहादिक तिनका कर्ता है। बहुरि निश्चयनयकरि चेतनकर्मका कर्त्ता है। इहा अशुद्धनय लेणा। जातैं चेतनकर्म रागादिक भावकर्म है। बहुरि शुद्धनय जो शुद्धनिश्चयनय ताकरि शुद्ध भाव जे अभेदरूप शुद्ध चेतन तथा शुद्ध दर्शन-ज्ञान तिनका कर्त्ता है।

भावार्थ—असद्भूतव्यवहारनयकरि तौ आत्मा पुद्गल-कर्मका कर्त्ता कहिये। जातैं व्यवहारी जीवनिकी दृष्टि पुद्गलके कर्त्तापणा ही परि प्रधान पड़ै है। बहुरि अशुद्धनिश्चयनयकरि

रागादिक भावकर्मका कर्त्ता कहिये। जातैं ते चेतनाके विकार हैं। तिनरूप आप ही परिणमै है। अध्यात्ममैं याकूं सद्भूतव्यवहार भी कहै है। बहुरि शुद्धनिश्चयनयकरि अपना चेतनभावमात्र अभेदशुद्धरूप तथा अभेदरूप शुद्ध ज्ञान-दर्शनमात्रका कर्ता है ॥छ॥

आगै भोक्ता विशेषणका निरूपण करै है।

गाथा :

> ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि ।
> आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥९॥

अर्थ—आत्मा व्यवहारनयतैं पुद्गलकर्मका फल जो सुख-दुःख ताहि भोगवै है। बहुरि निश्चयतैं अपना चेतनभावकूं प्रगट भोगवै है।

भावार्थ—यह आत्मा—जीवद्रव्य असद्भूतव्यवहारनयतै तो पुद्गलकर्मका फल, जो अन्तरंग तौ साता-असाताका उदयका स्वादरूप सुखदुःख, ताकू भोगवै है। बहुरि बाह्यसामग्री सुख-दुःखके कारणरूप मिलै है ताकू भोगवै है।

बहुरि निश्चयनयतै अपना चेतनभावकू भोगवै है। तहाँ अशुद्धनिश्चयकरि तो चेतनके विकार रागादिक तिनकू भोगवै है। बहुरि शुद्धनिश्चयनयकरि अभेदरूप शुद्ध चेतनामात्रभाव तथा याका परिणमन शुद्ध ज्ञान-दर्शनमात्र अभेदरूपकू भोगवै है। प्रमाणदृष्टिकरि सर्व नयके विषयकू भोगवता कहिये। सर्वथा एकनयकी पक्ष निरपेक्ष करै तौ मिथ्यादृष्टि है ॥छ॥

आगै स्वदेहपरिमाण विशेषणकूं प्रगट करै है।

गाथा :

अणुगुरु-देह-पमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा ।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा ॥१०॥

अर्थः—चेदा कहिए जीव है, सो व्यवहारनयकरि समुध्वांत (द्घात) बिना छोटा-बड़ा जैसी देह धारै, तिस प्रमाण होय है। जातैं सकोच-विस्ताररूप होय है तातैं। बहुरि निश्चयनयतैं असंख्यप्रदेशी है ॥छ॥

भावार्थः—यह जीव शुद्धनय निश्चयनयकरि तौ अभेदरूप असंख्यातप्रदेशी लोक प्रमाण है। अर सद्भूतव्यवहारनयकरि जैसी देह पावै तिसकै परमाण प्रदेश होय जाय हैं। जातैं यामैं संकोचि-विस्तार होनेकी शक्ति है।

बहुरि समुध्वान्त (समुद्घात) करै है। तब मूल शरीरतैं बाहरि प्रदेश फैले हैं। ते समुध्वांत (समुद्घात) सात हैं। वेदना, कषाय, विक्रिया, मरणातक, तैजस, आहारक, केवल। तिनके निमित्ततैं शरीरतैं बाह्य भी प्रदेश फैलै है। तहाँ जिस समुद्घात-का जेता क्षेत्र सिद्धान्तमैं कह्या है, तेता फैलै हैं। केवलसमुद्घात करै तब लोकपूरण प्रदेश होय है। सो प्रदेशनिका घटि-बधि— संकोच-विस्तार होनेकी अपेक्षा तौ सद्भूतव्यवहार कहिये। याहीकूं अशुद्ध निश्चय भी कहियै। अर देहमात्र ही कहियै तब असद्भूत-व्यवहार भी कहियै। देहकी अवगाहनाके अनेक भेद हैं। ते

सिद्धान्ततैं जाननैं। बहुरि प्रमाणदृष्टि करि दोउ नय प्रधान-करि जाननैं ॥छ॥

आगै संसारस्थ विशेषणका विवरण करै है। गाथा तीन मैं।

गाथा :

पुढवि-जल-तेउ-वाउव्वणप्फदी विविह-थावरेइंदी ।
विग-तिग-चदु-पंचक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥११॥

अर्थः—संसारी जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, ऐसैं अनेक प्रकार थावर एकेन्द्रिय हैं। बहुरि वेद्रिय, तेन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय, पंचेद्रिय ए सखकू आदिदेकरि त्रसजीव हैं।

भावार्थ—एकेन्द्रिय थावरनामा नामकर्मके उदयतै भये। ऐसे पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति, ए तौ थावर एकेन्द्रिय जीव हैं। ते स्पर्शन इन्द्रियके धारक अनेक प्रकार कहे। बहुरि त्रसनामा नामकर्मके उदयतैं भये, ऐसे स्पर्शन, रसन दोय इन्द्रियके धारक सख, सीप, लट आदि [वेद्रिय] जीव हैं। बहुरि घ्राण-इन्द्रिय सहित तीन इन्द्रियके धारक कुंथु, कीडी, जूव, उटकण आदि तेइन्द्रिय जीव हैं। बहुरि चक्षु सहित च्यारि इन्द्रियके धारक दंसमसक, माखी, भ्रमर आदि चौइन्द्रिय जीव हैं। बहुरि श्रोत्र सहित पांच इंद्रियोंके धारक मनुष्य, पशु आदि पंचेन्द्रिय जीव हैं ॥छ॥

अब इनकूं चौदह जीवसमासरूप कहै है।

गाथा :

समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे ।
वादर-सुहुमेइंदिय सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥१२॥

अर्थ.—मनकरि सहित अर मनकरि रहित असे पंचेन्द्रिय हैं। बहुरि अन्य सर्व मनकरि रहित हैं। बहुरि सर्व ही वादर हैं। अर एकेन्द्रियमैं सूक्ष्म, वादर दोउ हैं। बहुरि ए सर्व ही प्रजाप्त अर अपर्याप्त हैं।

भावार्थ.—पूर्वें गाथामै कहे ते पंचेन्द्रिय तौ सैनी, असैनीकरि दोय प्रकार है। बहुरि विकलत्रय [तीन प्रकार हैं]। अर एकेन्द्रिय सूक्ष्म, वादरकरि दोय भेद ए सर्व असै ही हैं। असैं सात भये। ते पर्याप्त, अपर्याप्तके भेदकरि चौदह जीवसमास होय हैं।

उक्तं च गाथा :

आहारसरीरेंदिय पज्जत्ती आणपाणभासमणो ।
चत्तारि पंच छप्पि य एइंदियवियलऽसंणिसंणीणं ॥१॥

[गो० जी० गा० ११८]

याका अर्थ—आहार, शरीर, इन्द्रिय, सासोछ्वास, भाषा, मन ए छह पर्याप्ति हैं। ते एकेन्द्रियकै च्यारि हैं। विकलत्रयकै अर असैनी पंचेन्द्रियकै पांच है। पंचेन्द्रिय सैनीकै छह हैं। बहुरि इनकै प्राण—एकन्द्रियकै आयु, काय, एक इन्द्रिय, सासोछ्वास असैं च्यारि हैं। वेंद्रियकै एक इन्द्रिय अर भाषा अधिक छह हैं। बहुरि तेंद्रियकै एक इन्द्रिय अधिक सात है। चौइन्द्रियकै एक इन्द्रिय अधिक आठ है। असैनी पंचेन्द्रियकै एक इन्द्रिय अधिक नव हैं।

सैनी पंचेन्द्रियकै मन अधिक दश हैं। अर अपर्याप्तमैं सासोछ्वास, भाषा अर मन ए तीन नाही हो है।

आगै संसारो जीवनिकूं नय-विभागकरि दिखावे है।

गाथा :

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥१३॥

अर्थः—पूर्वें कहे जे सर्व ही जीव चौदह मार्गणा अर चौदह गुणस्थाननिके भेदनिकरि अनेक प्रकार है, ते अशुद्ध नयकरि जानने। बहुरि शुद्ध नयकरि सर्व ही शुद्ध जानने।

भावार्थ—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, सैनी, आहारक ए चौदह मार्गणा हैं। बहुरि मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसापराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगीजिन, अयोगीजिन ऐसैं चौदह गुणस्थान हैं। सो अशुद्धनय जो अशुद्धनिश्चय पर्य्यायार्थिकनय तथा याहीकूं सद्भूतव्यवहार कहियै। अर असद्भूतव्यवहार। ऐसैं अशुद्ध नयकरि सर्व ही ससारी जीवनिके भेद हैं।

बहुरि शुद्ध नय—जो शुद्ध द्रव्यार्थिक, शुद्ध निश्चय, अभेदनय ताकरि देखियै, तब सर्व ही जीव शुद्ध चेतनमात्र अभेदरूप शुद्ध हैं। ऐसैं नयदृष्टिकरि जाननां। बहुरि प्रमाणदृष्टिकरि युगपत् दोउ भाव देखणा। सर्वथा एकान्त मिथ्यादृष्टि है। ऐसैं जीवनिका भेद-दृष्टिकरि जीवसमास, मार्गणास्थान, गुणस्थानके भेदकरि अनेक

भेद हैं । तातैं (ते) गोम्मटसार आदि ग्रन्थनितैं जाननें । यह तौ धवल, जयधवल, महाधवल ए तीन सिद्धान्त हैं, तिनका बीजपद जाननां । बहुरि अभेदनयकरि सर्व ही शुद्ध कहने तैं पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, परमात्मप्रकाश आदि अध्यात्मशास्त्रनिका बीजपद जानना ।।छ।।

आगै सिद्ध तथा उर्द्धगमन इन दोऊ विशेषणनिकूं कहै है ।

गाथा :

णिकम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवयेहि संजुत्ता ।।१४।।

अर्थ—कर्मनितैं रहित अर आठ गुणनितैं सहित अर चरम शरीरतैं किछू घाटि अवगाहना, अर लोकके अग्रभाग विषै तिष्ठे अर नित्य—साश्वते उत्पाद-व्ययकरि संयुक्त, अैसैं सिद्धि (द्ध) जीव है ।

भावार्थ—पहलैं संसारी जीव कहे ते अष्टकर्म सहित हैं । सो अष्टकर्मका नाशकरि सिद्ध होय हैं । तिनकै आठ कर्मके नाशतैं आठ गुण प्रगट होय हैं । मोहकर्मके नाशतैं सम्यक्त गुण, ज्ञानावरणके नाशतैं केवलज्ञान, दर्सनावरणके नाशतैं केवलदर्शन, अंतरायके नाशतैं अनन्तवीर्य, नामके नाशतैं सूक्ष्मपणा, आयुके नाशतैं अवगाहना, गोत्रकर्मके नाशतैं अगुरुलघु, वेदनीयके नाशतैं अव्याबाध सुख, अैसैं आठ गुण सहित है ।

बहुरि चरमशरीरतैं किछू घाटि अवगाहनामैं अवस्थित हैं । जातैं संकोच-विस्तार होनेका निमित्त कर्म था, ताका अभाव भया

है। बहुरि लोकके अंत बिषै तिष्ठे हैं। जातैं स्वभावतैं ऊर्ध्वगमन करि धर्मास्तिकायके अभावतैं अलोक बिषै गमन नांही है। बहुरि जन्म-मरणादितैं रहित भये, तातै नित्य हैं। बहुरि अगुरुलघुगुणकै द्वारै हानि-वृद्धिकरि परिणमै है, तातैं उत्पाद-व्ययरूप हैं, यह द्रव्यस्वभाव है।

इहां जीवकू कर्मकै वशतैं सिद्ध असा कहनां सो पर्यायार्थिक नयतैं है। सो यह अशुद्ध निश्चयनयतैं जानना। जातैं संसारी-सिद्धका भेद सो ही पर्यायार्थिक नय है। बहुरि शुद्धनिश्चयनय-करि अभेदविवक्षातैं सिद्ध समान शुद्ध सर्व ही जीव कहे है॥छ॥

इहां ऊर्ध्वगमनपरि उक्तं च गाथा है।

गाथा :—

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेशबंधेहिं सव्वदो मुक्को।
उड्ढं गच्छदि सेसा बिदिसावज्जं गदिं जंति॥

याका अर्थ—प्रकृति, संस्थित (स्थिति), अनुभाग, प्रदेश असैं च्यारि प्रकारके बंधकरि सर्वाङ्ग यह जीव रहित होय है, तब ऊर्ध्वगमन करै है। बाकीके बंध सहित जीव हैं, ते विदिसाकूं वर्जकरि श्रेणीरूप च्यारि दिशाकू तथा ऊर्ध्व अर अध. कहिये नीचेकू गमन करै हैं। यातैं कर्मतैं रहित होय ऊर्ध्वगमनकरि धर्मास्तिकायका अभावतै लोककै बाह्य न जाय, लोकके अंतविषै तिष्ठे है॥छ॥ ग्रैसें बारह गाथानिकरि जीवद्रव्यका निरूपण किया॥छ॥

आगै अजीवद्रव्यका व्याख्यान करै है ।

गाथा :

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं ।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु ॥१५॥

अर्थ.—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ए पाच अजीव द्रव्य है । तिनमैं रूप, रस, गंध, स्पर्श है गुण जामैं असा पुद्गल द्रव्य, सो तो मूर्त्तीक है । बहुरि बाकीके धर्म, अधर्म, आकाश, काल ए रूपादिगुणरहित अमूर्त्तीक हैं ॥छ॥

भावार्थ.—धर्म, अधर्म, आकाश, कालका तौ स्वरूप आगै कहसी । ते तौ अमूर्त्तीक हैं । अर पुद्गलका गुण इहां रूप, रस, गंध, स्पर्श कह्या है, तातैं मूर्त्तीक है । बहुरि इनमैं चेतनागुण नाही, तातैं अजोव हैं ॥६॥

अब पुद्गलके पर्याय कहै है ।

गाथा :

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया ।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥१६॥

अर्थ.—शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत, आताप इन करि सहित है, ते पुद्गलद्रव्यके पर्य्याय हैं । ॥छ॥

भावार्थः—शुद्धनिश्चयनयकरि तौ पुद्गलद्रव्य एक परमाणु-मात्र स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुणकू लीये अभेदरूप है । अर

अशुद्धनय पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनय करि बहुत परमाणु मिलि स्कंधपर्याय होय है। तहा परस्पर स्कंधनिके भिडनेतैं तौ शब्द-पर्याय होय है। सो भाषा [, अभाषा] स्वरूपकरि दोय प्रकार है। तहां भाषा अक्षर, अनक्षररूप करि दोय प्रकार है। तहां अक्षररूप तो मनुष्यनिकी भाषा प्रसिद्ध है। अनक्षर तिर्यंचनिको है। तथा कोई प्रकार अनक्षररूप केवलीकी वाणीकूं कहियै।

बहुरि अभाषारूप दोय प्रकार है। तहा तांतको बाजो, नगारा आदिको बाजो, तालको बाजो, बशीको बाजो, ए तौ पुरुषके निमित्ततैं होयतैं प्रायोगिक कहियै। बहुरि स्वयमेव मेघका गर्जना आदि होय सो वैश्रसिक है।

बहुरि परस्पर स्कधनिका बधना सो बध है। सो अनेक प्रकार प्रसिद्ध है। बहुरि सूक्ष्म, स्थूल परस्पर छोटा-बड़ाकी अपेक्षा प्रसिद्ध है। उत्कृष्ट-सूक्ष्म परमाणु है। उत्कृष्ट-स्थूल महास्कंध है। बहुरि सस्थान चौकोर, तिकूणा, गोल आदि अनेक प्रकार प्रसिद्ध है। बहुरि भेद—खण्ड-खण्ड होना चून, दालि आदि अनेक प्रकार प्रसिद्ध है। तम नाम अंधकारका, छाया नाम छाहलीका, उद्योत नाम उजालाका, आताप नाम तावडाका ए प्रसिद्ध हैं। ऐसैं दश प्रकार कहे। उपलक्षणतैं अनेक प्रकार पुद्गलके पर्याय जानने। जो इन्द्रियनिके ग्रहणमैं आवै ते सर्व पुद्गल प्रसिद्ध हैं। अर सूक्ष्म स्कध अवधि, केवलज्ञानगम्य है। ते इन इन्द्रिगोचर स्कधनिकू कारण हैं। सो ते कारण हैं ते भी इन कार्यनिके गुणस्वरूप मूर्त्तीक हैं ऐसैं जानना ॥१६॥

आगै धर्मद्रव्यकूं कहै है।

गाथा :

गइपरिणयाण धम्मो पुद्गलजीवाण गमणसहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छता णेव सो णेई ॥१७॥

अर्थ—गमनरूप परिणए जे जीव, पुद्गलद्रव्य, तिनकूं सहकारी कारण धर्मद्रव्य है। जैसैं माछलेकूं गमन करतै जल सहकारी होय है, तैसें जानना। बहुरि जब जीव, पुद्गल गमन न करैं, स्थित रहैं, तब धर्मद्रव्य प्रेरणा करि गमन नाही करावै है।

भावार्थः—जीव, पुद्गल स्वयमेव गमन करैं। तब धर्मद्रव्य सहकारी हो है। तिष्ठतेकूं नाही चलावै है।

आगै अधर्मद्रव्यकूं कहै है।

गाथा :

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गल-जीवाण ठाणसहयारी।
छाया जह पहियाणां गच्छंता णेव सो धरई ॥१८॥

अर्थ—स्थानयुक्त जे जीव, पुद्गलद्रव्य तिनकूं अधर्म द्रव्य स्थान-सहकारी है। जैसैं पंथमैं चालते जे पथिकजन, तिनकूं वृक्षकी छाया बैठनेकू सहकारी होय है तैसैं जानना। बहुरि जो गमन करते होय तौ तिनकू हस्तादिकरि थांभि राखि नाही है ॥छ॥

भावार्थः—चालतेकूं पकडि बैठावौ (वै) नाही है। स्वयमेव थंभि जाय—बैठि जाय, तौ सहकारी होय है ॥छ॥

आगे आकाशद्रव्यकूं कहै है।

गाथा :

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥१९॥

अर्थ:—जो जीव आदि द्रव्यनिकूं अवकाश देनेकूं योग्य है ताकूं जिनदेवकरि कह्या आकाशद्रव्य जाणूं। सो आकाश लोकाकाश, अलोकाकाश ऐसैं दोय प्रकार है ॥छ॥

भावार्थ—निश्चयनयकरि सर्वद्रव्य अपने-अपने स्वरूपमे तिष्ठै हैं। तथापि, व्यवहारकरि ऐसा कहिये जो आकाशद्रव्य सर्वनिकू अवकाश दे है, यामैं सर्व तिष्ठै हैं। ऐसा व्यवहार—आधार-आधेयभाव जनाया है ॥छ॥

आगै लोक-अलोकका भेदकूं कहै है।

गाथा :

धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्ति (त्तो) ॥२०॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल, जीव ए द्रव्य जेते आकाश विषै तिष्ठै हैं सो तो लोकाकाश है। बहुरि ताकै परैं केवल एक आकाशद्रव्य ही है, सो अलोकाकाश है, ऐसैं जानना ॥छ॥

भावार्थ—आकाशद्रव्यके अनन्तानन्त प्रदेश है। ताकै वीच असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश है। ता विषै अनंतानंत जीव, तिनतैं अनंतानत पुद्गल, असंख्यात कालाणू, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्म-

द्रव्य ते तिस असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश, तामैं तिष्ठै हैं। यह अवगाहनशक्तिकी विचित्रता है ॥छ॥

आगे कालद्रव्यका स्वरूप कहै है।

गाथा :

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥२१॥

अर्थः—द्रव्यनिके परिवर्तनरूप जो काल है, सौ तो व्यवहार-काल है। सो यह तो द्रव्यनिके परिणामकी पलटनि, ताकरि लख्या जाय है। बहुरि जो वर्तनाकरि लख्या जाय है, सो परमार्थकाल है ॥छ॥

भावार्थः—जीव, पुद्गलकी नव, जीर्ण अवस्था तथा एक क्षेत्रतैं अन्य क्षेत्र विषै गमन होय ताकूं जो वार लागै, ताकू व्यवहारकाल कहिये है। सो पुद्गलपरमाणु मंदगमनकरि आकाशके एक प्रदेशतैं दूसरे प्रदेशमैं जाय जो वार लागै ताकूं समय कह्या है। ऐसैं जघन्ययुक्तासंख्यात समयकी एक आवली कही है। ऐसैं ही संख्यात आवली एक मुहूर्त्त। ऐसी ही दिन, राति पक्ष, मास आदि जाननें। सो यह तौ जीव, पुद्गलके परि-णामकरि जान्या जाय है।

बहुरि परमार्थकाल है सो वर्तनालक्षण है। सो ताकी वर्तना सर्वद्रव्यनिके परिणमन प्रति निमित्त है। जैसैं गति, स्थिति, अवगाहन प्रति धर्म, अधर्म, आकाश निमित्त हैं, तैसैं सर्वके

परिणमनेंकूं परमार्थकालकी वर्त्तना निमित्त है। अर सर्वद्रव्यनिकी वर्त्तना अपने उपादानकारण द्रव्य ही तैं है। तिस द्रव्यनिकी वर्त्तनाकूं तथा कालकी वर्त्तनाकू दोऊ हीकू व्यवहारकाल कहिये ।।छ।।

आगै परमार्थकाल कालाणू है, तिनकूं वा तिनिकी संख्याकूं कहै है।

गाथा :

> **लोयायामपदेसे एक्केक्के जे ठिया हु एक्किक्का।**
> **रयणाणं रासीसिव ते कालाणू असंखदव्वाणि।।२२।।**

अर्थः—लोकाकाशके प्रदेशनि विषै एक-एक विषै जे एक-एक न्यारा-न्यारा रत्ननिकी राशि ज्यौ प्रगट तिष्ठै है, ते कालके अणू असंख्यात द्रव्य हैं ।।छ।।

भावार्थः—लोकाकाशके प्रदेशनि विषै न्यारे-न्यारे असंख्यात कालाणूद्रव्य तिष्ठै है। तिनकै परस्पर मिलि स्कंध होनेकी शक्ति नाही। तातै रत्नराशिकी उपमा है।

बहुरि तिनका अस्तित्व द्रव्यनिकी वर्तनातैं सिद्ध होय है। अैसैं अपनी-अपनी वर्तनारूप द्रव्य वर्त्तै हैं। तिन सर्वनिकूं एक निमित्त चाहिए। जैसै गति, स्थिति, अवगाहनकूं निमित्त धर्म, अधर्म, आकाश मानिये है। तैसें तिनकी वर्तनाकूं निमित्त कालकी वर्त्तना है। इस वर्त्तनाका आश्रय कालाणूद्रव्य है। सो अमूर्तीक नित्य है। तिसका परिणमन पूर्व-उत्तर वर्तना

पर्याय है। सो यह पर्याय जीव, पुद्गलके परिणामकरि जानी जाय है।

बहुरि एक-एक आकाशके प्रदेश विषै न्यारे-न्यारे पुद्गल द्रव्य तिष्ठै हैं। तिनके परिणमनकू न्यारे-न्यारे कालाणू निमित्त होय हैं। भिन्न द्रव्यकू भिन्न प्रदेशमैं तिष्ठता निमित्त नांही। तातैं कालाणू असंख्यात हैं।

बहुरि अलोकाकाशमैं कालाणूं नांही तोऊ लोकमैं तिष्ठे कालाणू निमित्त है। जातैं आकाशद्रव्य एक है, अलोक न्यारा द्रव्य नांही। ऐसे जाननां। ऐसे षटद्रव्यका निरूपण कीया ॥छ॥

आगै इन छह द्रव्यनिमैं कालद्रव्य बिना पांच द्रव्यनिकूं अस्तिकाय कहै है।

गाथा :

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं ।
उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु ॥२३॥

अर्थ.—जैसे पूर्वैं कहे जे जीव, अजीव दोय द्रव्य तिनके उत्तर भेदतैं द्रव्य छह भेदरूप कहे। बहुरि एही कालद्रव्य बिना पाच— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश ए—अस्तिकाय जाननें।

अब इनकूं अस्तिकाय कैसें कहे, ताका शब्दका अर्थ कहै है।

गाथा :

संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा जम्हा ।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य ॥२४॥

अर्थः—जातैं द्रव्य अस्तित्वरूप हैं। तातैं तो इनकूं 'अस्ति' अैसा जिनवर भगवान् सर्वज्ञ देव कहै है। बहुरि जैसें काय कहिये देह ताके बहुत प्रदेश होय हैं। तैसें ए बहुत प्रदेश हैं। तातैं कायकी उपमातैं 'काय' अैसा कहै है। अैसें 'अस्तिकाय' कहिये है।

भावार्थः—अस्त(स्ति)त्व विशेषणकरि जीवत्व, अजीवत्व आदि अपने-अपने स्वरूपकरि द्रव्य न्यारे-न्यारे हैं। तौऊ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप जो सामान्य अस्तित्व तिसकरि सर्व एक-स्वरूप भी कहिये। बहुरि बहुत प्रदेशपणातैं इनकूं 'काय' संज्ञा कही है ॥छ॥

आगै कौनकै केते प्रदेश हैं, सो कहै है।

गाथा

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥२५॥

अर्थ.—जीवविषै असंख्यात प्रदेसी (स) हैं। बहुरि धर्म, अधर्म द्रव्य विषै भी एते ही हैं। बहुरि आकाश द्रव्य विषै अनन्त-प्रदेश हैं। बहुरि मूर्त्तीक जो पुद्गल द्रव्य ताकै विषै संख्यात, असंख्यात, अनत अैसें तीन प्रकार प्रदेश हैं। बहुरि कालकै एक ही प्रदेश है। तातैं ताकू 'काय'सज्ञा नाही कही ॥छ॥

भावार्थ.—एक जीवके प्रदेश लोकाकाशपरिमाण असख्यात हैं। बहुरि आकाशके अनत प्रदेश हैं। बहुरि पुद्गलनिके स्कंध-निकी अपेक्षा संख्यातपरमाणुका स्कंध हो है। असंख्यातका हो

है। अनतका हो है। तातैं तीन प्रकार कहे। ऐसैं बहुप्रदेश-रूप कायसारिखे हैं। तातैं ए काय कहिये। बहुरि कालाणूं एक ही पदेशमात्र है। बहुरि स्कंधरूप भी न होय। तातैं काय न कह्या ।।छ।।

आगे पुद्गलपरमाणू एकप्रदेशमात्र है तोऊ अन्य परमाणू मिलि स्कंधरूप होय है। तातैं उपचारतैं बहुप्रदेश कहियै, ऐसा कहै है।

गाथा

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि ।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ।।२६।।

अर्थ —पुद्गल परमाणू एकप्रदेशमात्र है तौऊ अनेक प्रकार स्कधरूप प्रदेशनितैं बहुप्रदेशी होय है। नातैं याकू उपचार करि 'काय' ऐसा सर्वज्ञदेव कहै है।

भावार्थ —पुद्गलपरमाणू रूक्ष, सचीकण गुणके योगतैं परस्पर मिलि स्कंधरूप होय हैं। तातैं बहुप्रदेशी होनेतैं उपचार-करि काय कह्या है। कालाणू अमूर्त्तीक है। यातैं तामैं रूक्ष, सचीकण गुण नाही है। तातैं परस्पर मिलि स्कंध न होय। तातैं उपचारतैं भी काय नाही।

आगे प्रदेशका स्वरूप कहै है।

गाथा .

जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्टद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ।।२७।।

अर्थ.—जेता आकाश अविभागी पुद्गलपरमाणूं रोकै सो आकाशका एकप्रदेशमात्र जाणूं। सो यहु आकाशका एक-प्रदेश कैसा है। सर्व पुद्गलपरमाणूनिकूं स्थान देनेकूं योग्य है। अनंतानत परमाणूं यामैं रहै। ऐसी अवगाहनशक्ति यामैं है ॥छ॥

भावार्थ—पुद्गलनिके स्कंधनिका विभाग करिते जाई-ए, जब फेरि विभाग न होय, सो परमाणू कहिये। सो यातैं छोटा और द्रव्य नाही। या हीकूं द्रव्यपरमाणू कहियें। ऐसा ही कालका अणू है। सो अमूर्त्तीक है। पुद्गल मूर्त्तीक है। यह विशेष है।

बहुरि आकाशका प्रदेश भी इस अणू बराबरि ही है। सो सर्व परमाणूकूं अवगाहै (ह) देणेकी सामर्थ्ययुक्त है। यद्यपि अवगाहनगुण सर्व द्रव्यनिमैं है। तथापि आकाश सर्वतैं बडा है। तातैं प्रधानपणैं याका गुण कह्या। सर्वद्रव्य अन्यमैं न रहैं। ऐसैं पुद्गलपरमाणू, कालका अणू, आकाशप्रदेश इनकूं परमाणूं सज्ञा है। तैसैं ही व्यवहारकालका समय अर भावका अविभागपरिच्छेद इनकूं भी परमाणूं संज्ञा है।

बहुरि आकाश विषै प्रदेश-कल्पना है सो भी युक्त है। जो नाही मानिये तौ जीव, पुद्गल न्यारे-न्यारे आकाशक्षेत्रमैं रहै हैं। ते कैसैं वणैं? एक ही क्षेत्र सर्वका चाहिये। तातैं न्यारे-न्यारे विभागरूप आकाश दीखै है। तातैं प्रदेश-विभाग कहनां युक्त है। परमार्थतैं अविभाग एकद्रव्य है ही ॥छ॥

ऐसैं सत्ताईस गाथामैं षट द्रव्य, पंचास्तिकायका निरूपण कीया। ऐसै प्रथम अधिकार पूर्ण भया ॥१॥

अब इस अधिकारकी चूलिकारूप व्याख्यानकूं [करने वाली] दोय गाथा 'उक्तं च' हैं। सो लिखिये है।

गाथा :

परिणामि जीव मुत्तं सपएसं एयखित्त किरिया य।
णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदमिदरंहि अपवेसो ॥१॥
दुण्णि य एगं एगं पंच य तिय एग दुण्णि चउरो य।
पंच य एगं एगं मूलस्स य उत्तरं णेयं ॥२॥
[वसुनन्दिश्राव० २३,२४]

इनका अर्थः—परिणामसहित जीव, पुद्गल दोय द्रव्य, जीव एक जीव द्रव्य, मूर्त्तिक एक पुद्गलद्रव्य, बहुप्रदेशी पाच द्रव्य काल बिना, एकसंख्यासहित धर्म, अधर्म, आकाश ए तीन द्रव्य, क्षेत्रवान एक आकाशद्रव्य, क्रियावान दोय जीव व पुद्गल द्रव्य, नित्य जीव, पुद्गल बिना च्यारि द्रव्य, कारणसहित जीव बिना पाँच द्रव्य, कर्त्ता एक जीवद्रव्य, सर्वगत एक आकाशद्रव्य, ऐसैं पहली गाथामैं ग्यारह प्रश्न, दूसरी गाथामैं तिनके ग्यारह उत्तर हैं।

बहुरि पहली गाथामैं 'इतर' ऐसा पद है। तातैं परिणामा-(मिआ) दिकतैं इतर अपरिणामा (मिआ) दिक, तिन प्रतिपक्षी भी अवशेष द्रव्य कहि लेणे। बहुरि 'अपवेसो' ऐसा पद है, ताका अर्थ ऐसा—जो [ये छहों द्रव्य] एकक्षेत्रावगाह करि तिष्ठै हैं, तथापि अन्य द्रव्यमैं प्रवेश नांही है।

भावार्थः—जीव, पुद्गलकुं परिणामी कह्या। सो द्रव्य–व्यवहार अपेक्षा। निश्चयकरि सर्व ही परिणामी हैं। जीवकूं प्राणधारणतैं जीव बाह्या (कह्या)। अन्य प्राण धारै नांही। तातैं अजीव हैं।

पुद्गलकूं मूर्त्तीक कह्या। सो स्पर्श, रस, गंध, वर्णरूप इन्द्रिय-गोचर मूर्ति याहीकी है। अन्यमैं गुण नाही। तातैं अमूर्त्तीक हैं। सप्रदेशी पाच कहे। सो बहुप्रदेश इनहीकै हैं। काल एकप्रदेशमात्र है। तातैं अप्रदेशी है। एकसंख्यासहित धर्म, अधर्म, आकाश ए तीन ही हैं। जीव, पुद्गल, काल अनेक हैं। क्षेत्री आकाश ही है, जामैं सर्व वसैं। अन्य अपने-अपने क्षेत्रके स्वामी हैं। तातैं क्षेत्रीपणा प्रधान नाही। क्रियावान् जीव, पुद्गल ही हैं। अन्य क्रियारहित—अवस्थित हैं। नित्य दृष्टव्यवहारमैं च्यारि ही हैं। जीव, पुद्गलकी अवस्था पलटती देखिये है। तातैं नित्य नाही। अर द्रव्यदृष्टि करि सारे ही नित्य हैं। पर्यायदृष्टि करि सारे ही अनित्य हैं। कारणसहित पांच हैं। जीवकूं सर्व ही कारण है। जीव काहूकूं कारण नाही। उपचार करि कहिये तौ इहा प्रधान नांही। कर्ता जीव ही है। शुभाशुभ कर्मकूं करै है। ताका फल भोगव (वै) है। अन्यकै किछू भोगतापणां नाही। तातैं कर्त्तापणा भी नाही। अर अपने-अपने स्वभावके कर्त्ता सर्व ही हैं। सर्वगत आकाश ही है। यामैं सर्व ही वसैं हैं। अन्य सर्वगत नांही। बहुरि परस्पर प्रवेश है, तौऊ अपने-अपने स्वरूपकौ छोडै नाही हैं। तातैं अप्रवेश है ॥छ॥



द्वितीय अधिकार

आगै सप्त-तत्त्व, नव पदार्थका प्ररूपणका दूसरा अधिकार लिखिये है। तहां प्रथम ही तिनके नाम कहै है।

गाथा

आसवबंधणसंवरणिज्जरमोक्खा सपुण्णपावा जे।
जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो ॥२८॥

अर्थ.—जीवद्रव्य, अजीवद्रव्यके जे विशेष, असे आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, तिन जीव, अजीव सहित सात तत्त्व, अर ते पुण्य, पाप सहित नव पदार्थ, तिनकूं हम संक्षेपकरि कहै है, असैं आचार्यने प्रतिज्ञा करी।

भावार्थ.—जीव, अजीव तो पहलै कहे ते। अर दोऊके संयोग-रूप बंधपर्यायके निमित्ततैं फेरि कर्म आवना सो आस्रव। जीव, पुद्गलकर्मका प्रदेशनिका सम्बन्ध होना सो बन्ध। अर कर्मका रोकना सो सवर। कर्मका एकदेश क्षरना सो निर्जरा। सर्वदेश अभाव सो मोक्ष। असै सात तत्त्व हैं। वहुरि जो जीवकूं संसारमैं सुखका निमित्त होय सो पुण्य। दुखका निमित्त होय सो पाप। असैं इन सहित नव पदार्थ हैं।

अब तिनका स्वरूप संक्षेपकरि आगै कहै है। तहां प्रथम ही आस्रव-तत्त्वका व्याख्यान करै है।

गाथा

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥२९॥

अर्थः—जिस आत्माके परिणामकरि कर्म आस्रवरूप होय, सो परिणाम भावास्रव जिनदेवकरि कह्या जाननां। बहुरि जो पुद्गलकर्मका आवना सो द्रव्यआस्रव है।

भावार्थः—जीवके शुद्ध चेतनाका परिणाम जो शुद्ध दर्शन, ज्ञानरूप उपयोग, तिसतैं विलक्षण जो परनिमित्ततैं रागादिक परिणाम, सो तौ भावआस्रव है। बहुरि तिनके निमित्ततैं पुद्गलकर्मरूप परिणमैं जीवकूं फल देनेकी शक्तिरूप होय, सो द्रव्यआस्रव है ॥२६॥

आगै भावास्रवके भेद कहै है।

गाथा :

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओऽथ विण्णेया।
पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥३०॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग, क्रोध आदि कषाय ते अनुक्रमतैं पाच, पाच, पद [र] स, तीन, च्यारि ए भेद भावआस्रवके जानने।

भावार्थः—जीवादि सात तत्त्वनिका अन्यथा विपरीत अभिप्रायरूप श्रद्धान सो मिथ्यात्व है। सो पाच प्रकार—एकान्त, विनय, ससय, विपरीत, अज्ञान ऐसैं। बहुरि अविरति—हिंसा आदि पाच प्रकार पापका अत्यागभाव। बहुरि प्रमाद पंदरह भेद—विकथा च्यारि, कषाय च्यारि, इन्द्रिय पाच, निद्रा, स्नेह ऐसैं। याका सामान्य स्वरूप—जो इन पंदरह भेदनिके निमित्ततैं अपने स्वरूपके साधन विषै असावधानीसूं प्रवर्त्तना।

बहुरि योग तीन—मन, वचन, काय इनके निमित्ततैं आत्म-प्रदेशनिका चलनां। बहुरि क्रोध, मान, माया, लोभ ए च्यारि कषाय। ऐसैं जीवके परिणामस्वरूप भावआस्रवके भेद हैं। इनके उत्तरभेद बहुत हैं। संसारभ्रमणका मूलकारण यह आस्रव है ॥छ॥

आगै द्रव्यास्रवका स्वरूप कहै है।

गाथा :

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेयो अणेयभेओ जिणक्खादो ॥३१॥

अर्थः—ज्ञानावरण आदि अष्टकर्म, तिनके बंधनेंयोग्य जो पुद्गलके वर्गणातैं आवै। तिनमैं कर्मरूप शक्ति होनां सो द्रव्य-आस्रव जाननां। सो अनेक भेदरूप जिन भगवान सर्वज्ञदेवनै कह्या है ॥छ॥

भावार्थ—पुद्गल विषै भावास्रवके निमित्ततैं कर्मके फल दैनेंकी शक्तिका होना सो द्रव्यास्रव है। ताके मूलप्रकृति तौ ज्ञानावरणादिक आठ भेद हैं। इनके उत्तरभेद एकसौ अठतालीस हैं। तिनके भी उत्तरभेद असंख्यात लोकप्रमाण हो हैं। सो इनका स्वरूप, संख्या, फलका कथन गोमठसार आदि ग्रंथनितैं जाननां।

आगै बंधका व्याख्यान करै है।

गाथा :

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥३२॥

अर्थः—जिस चेतनभावकरि कर्मपुद्गल आत्मातैं बंधै सो परिणाम भावबंध है। बहुरि कर्मपुद्गलका अर आत्मप्रदेशनिका परस्पर प्रवेश, सो द्रव्यबध है।

भावार्थः—मिथ्यात्व आदि अशुद्ध चेतनाके परिणामकरि द्रव्यबध होय है। तिस परिणामकूं भावबध कह्या।

इहा कोई पूछै—भावआस्रवमैं अर भावबधमैं कहा विशेष है? ताका समाधान—जो पुद्गलमैं कर्मशक्ति निपजानेकूं कारण भये जे रागादि परिणाम तिनकूं तौ भावआस्रव कहै।

बहुरि मिथ्यात्वादि परिणाम ही जे आस्रवरूप भये द्रव्यकर्म, तिनकू बधनेकू कारण भये, तातैं तिनकू भावबन्ध कहै। बहुरि ते ही द्रव्यकर्म आत्मप्रदेशनितै बधाणरूप भये, ताते तिनकूं द्रव्यबधरूप कहै। कार्यके भेदतै कारणका भेद कह्या है।

आगै बंधके भेद कहै है। ✓

गाथा .

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥३३॥

अर्थ.—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश इन भेदनितैं बध च्यारि प्रकार है। तहाँ योगनितैं तौ प्रकृतिबध, प्रदेशबन्ध होय है। अर स्थित(ति), अनुभागबंध है, सो कषायतैं होय है ॥३३॥

भावार्थ :—प्रकृति नाम स्वभावका है। जैसैं—नीवका कड़ा [कडुआ] स्वभाव, साठेका मीठा स्वभाव। तैसैं ही ज्ञानावरणका ज्ञान प्रगट न होनें देनेंका स्वभाव। दर्शनावरणका दर्शनकौ प्रगट

न होनै देना। वेदनीयका सुख-दुखकी वेदनां जनावनां। मोह-नीयका अपने स्वरूपका लुभावनां, परविषै ममत्व—इष्ट-अनिष्ट बुद्धि उपजावना। आयुका मनुष्य आदि गतिविषै कालमर्याद लीये स्थिति राखनां। नामका अनेक अवस्था-आकारादिक करनां। गोत्रका उच्च-नीचपणा करनां। अन्तरायका दानादिकविषै विघ्न करना। ए आठ कर्मके स्वभाव, सो ही प्रकृतिबध है।

बहुरि कर्मनिको वर्गणा आत्मप्रदेशविषै बंधै, तिनके कालकी मर्याद, जो एते काल ताई बंधी रहगी, सो स्थित [ति] बंध है। बहुरि कर्मप्रकृतिका रसतीव्र-मद भेद लीयै बधै सो अनुभागबंध है। बहुरि जो पुद्गलकी वर्गणा कर्म-रूप होय आत्मप्रदेसनितैं बधै, ताकी सख्याका भेद, जो समय-समय एती परमाणु आय बधै हैं, सो प्रदेशबंध है। सो योगनितैं तौ प्रकृति-प्रदेशबंध कह्या। सो जहां इर्यापथ बध कह्या है, तहाँ तौ केवल योगनि ही तैं होय है, तहा स्थित (ति) अनुभागबध नांही।

बहुरि योगनिविषै उपयोगके नैमित्तक विकार मिथ्यात्व,अवि-रति, प्रमाद, कषाय मिलै है। तहां स्थित (ति), अनुभागबंध होय है। सो गुणस्थाननिकी परिपाटीमैं मिथ्यातगुणस्थानमैं तौ मिथ्या-त्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग सर्व ही कारण हैं। बहुरि मिथ्यात्व गये पीछै अविरति, प्रमाद्र, कषाय, योग ही तैं कहियै। बहुरि एकदेश अविरति पाचमैं गुणस्थानमै गया है। बहुरि छठै गुणस्थान अविरति नाही। तहा प्रमाद, कषाय, योगनि ही तैं है। बहुरि सातमै गुणस्थान प्रमाद नाही। तातैं दशमा ताइ कषाय अर योग ही तै है। बहुरि ग्यारमैं तैं लगाय सयोगी जिन ताई

केवल योग ही तै है। सो तहाँ स्थिति, अनुभाग नांही। बहुरि चौदमैं गुणस्थान योग भी नांही, तातैं अबंध है।

कोई इहां पूछे—चौथै गुणस्थान अपनां स्वरूपकी प्राप्ति भई, तहां स्वरूपमैं उपयोग लगावै, तिस काल बंध होय है कि नाही? ताका समाधान—

जो इहां स्वरूप विषै उपयोग लगावना है सो ही प्रतिरूप राग-सहित होय है। तिसतैं रागतैं शुभप्रकृतिनका स्थित तौ विशेषकरि बंध होय है। अर अशुभप्रकृति घातिकर्म तथा अघातिकर्म, तिनका अनुभाग थोरा बंधरूप होय है। अैसा तौ नाहीं जो तिनका बध स्थिति-अनुभागरूप न होय है। तीव्र मंदका ही भेद है।

बहुरि अनतानुबधी बिना चारित्रमोहका राग सम्यक्तका बाधक नाही। तातैं राग लग्या रहै सो यह राग अनुभव—जाननेमैं आवै। ऐसा मोटा तौ सातमा गुणस्थान ताई रहै है। तीव्र-मंदका चौथा, पाचमा, छठा, सातमा गुणस्थानमैं भेद है। अर श्रेणी मडै है, तब यह राग भी अनुभवगोचर नाही रहै। केवलीगम्य है, सो आठमै, नवमै, दशमैं ताई घटता-घटता है। ताकै अनुसार स्थिति, अनुभागबंध होय है। बहुरि ग्यारमैं तौं सर्व मोहका उपशम है, बारमैं क्षय है। तातैं तहा राग नाही। तहां स्थिति, अनुभाग भी नाही। योगनिमित्ततैं प्रकृति-प्रदेशरूप एक साता-वेदनीकी प्रकृति है, सो इर्यापथरूप है। इहां अन्य प्रकृतिनिका इर्यापथ भी नाही है। अैसा जाननां।

आगे संवर तत्त्वकूं कहै है।

गाथा :

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥३४॥

अर्थ.—जो चेतनका परिणाम कर्मके आस्रवके रोकनेकूं कारण है, सो परिणाम प्रगट भावसंवर है। बहुरि द्रव्यआस्रवका रोकना, सो तौ अन्य कहिये द्रव्यसंवर है ॥छ॥

भावार्थः—पूर्वै भावआस्रवबंधरूप चेतनपरिणाम—मिथ्यात्व आदि कहै थे, तिनतैं रहित शुद्ध उपयोगरूप चेतनका परिणाम आस्रवके रोकनेकूं कारण है। सो निश्चयतैं भावसंवर है। सो इस शुद्धोपयोगकी प्रवृत्ति अप्रमत्तगुणस्थानतैं लगाय क्षीणकषायपर्यंत जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदकरि वर्त्तै है। जातैं इहां एकदेश शुद्धनयकी विवक्षातैं क्षायोपशमिक्ज्ञानविषै मोहका जेता अंशाभाव है, तेता अंश शुद्धोपयोगकी प्रवृत्ति है। सो सातवें गुणस्थान प्रमाद—असावधानीरूप कषाय तौ है ही नाही।

बहुरि कषायमात्र मद उदय है। ताकूं धर्मध्यानकी सामर्थ्यकरि दोऊ विश्रेषी मांडै, तब शुद्धोपयोगकी जघन्य प्रवृत्ति कहियै। बहुरि श्रेणीकै विषै कषाय अतिमंद होय निपट क्षीणी पडै है, तब अपने अनुभवकै गोचरकी योग्यता ही तिनमैं न रहै। जब अनुभवकै लखै शुक्लध्यानरूप उज्वल उपयोग होय, तब आठमैं, नवमैं, दशमैं गुणस्थानमैं बधता-बधता मध्यम शुद्धो-

पयोग कहिये। बहुरि ग्यारमैं, बारमैं मैं कषायका सर्वथा अभावतैं उत्कृष्ट शुद्धोपयोग कहियै। बहुरि मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र विषै तौ सम्यक्त बिना केवल अशुभोपयोग ही है। बहुरि अविरति, देसविरति, प्रमत्तगुणस्थान विषै सम्यक्तकी सामर्थ्य करि शुद्धोपयोगका साधनरूप शुभोपयोग है। याकूं उपचारतैं शुद्धोपयोगका एकदेश कहिए, तौ कारणविषै कार्यका उपचार हो है। ऐसैं शुद्धोपयोगरूप जो आत्माका चेतनापरिणाम, सो भावसवर कह्या है।

बहुरि याकै होतैं कर्मका आस्रवबध न होना सो द्रव्यसवर है। सो गुणस्थाननिकी परिपाटीविषै प्रकृतिनके बंधका अभाव कह्या है, तिस अनुक्रमतैं तिस प्रकृतिका संवर जाननां। याका कथन गोमठसारतैं जानना। बहुरि इहा शुद्धनयकी एकदेश विवक्षा है। सो केवलज्ञान तौ सर्वथा शुद्धनयकी विवक्षारूप है, अर क्षायोपशमिकज्ञानकूं एकदेश शुद्धनय ही कहियै। मोहरूपका मिटनेतैं शुद्धता कहिये है।

आगै इस भावसंवरके विशेष कहै है।

गाथा :

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपिहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥३५॥

अर्थ—व्रत, समिति, गुप्ति बहुरि धर्म, अनुपेक्षा, परिसहका जीतना, चारित्र ऐसैं बहुभेदरूप भावसंवरके विशेष जाननें ॥छ॥

भावार्थ—महाव्रत पाच—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अचौर्य,

ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग । समिति पांच—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपणा, प्रतिष्ठापना । गुप्ति तीन—मन, वचन, कायका वसि करनां । धर्म दश—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य । अनुप्रेक्षा बारह—अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, धर्म इनका बार-बार चिंतवन । परिसह बाईस—क्षुधा, त्रषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नपणा, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन इनका जीतनां । चारित्र पांच—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात । ऐसैं भावसवरके बहुत भेद हैं । इनका स्वरूपका व्याख्यान तत्त्वार्थसूत्रकी टीकातैं जाननां । ए सर्व ही प्रवृत्ति-निवृत्तिस्वरूप हैं । अर संवर है, सो निवृत्तिस्वरूप ही है । प्रवृत्ति है, सो बंधका कारण है । सो जेता अंश इनमैं निवृत्ति है, तेता तौ संवर है ही ।

बहुरि प्रवृत्ति है तातैं पापका तौ सवर है अर पुण्यका बंध है । सो यह बध है । सो भी संवरका साधक है । जातैं इनमैं प्रवृत्ति है ताकौ फल जो पुण्यबंध, ताकी इच्छा साधककै नांही है, मोक्ष ही साधनेका प्रयोजन है । तातैं पुण्य भी परम्परा-संवर ही का साधक है । ऐसा जाननां—जो पुण्यका फल तौ स्वर्गादिक के भोग, ताकी इच्छाकरि पुण्यका साधन करै है, ताकै व्रतादिक-की प्रवृत्ति संवरका कारण नांही ॥ छ ॥

आगै निर्जरा तत्त्वका कथन करै है।

गाथा :

जहकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥३६॥

अर्थः—जो कर्मबंधरूप पुद्गल है तिसका जिस चेतना-परिणामकरि यथाकाल कहिये जब उदयकाल आवै तब; अथवा तपकरि कर्म अपनां रसकूं भुगताय झडि जाय तिस भावकूं तौ भावनिर्जरा कहिये। बहुरि जो तिस पुद्गलकर्मका झडनां सो द्रव्यनिजरा है। ऐसैं निर्जरा दोय प्रकार है।

भावार्थ—यथाकाल निर्जरा—जो सर्व ही जीवनिकै कर्म रस दे खिरि जाय है सो विपाकनिर्जरा है। अर जो तपकरि होय है सो [अयथाकाल निर्जरा—] अविपाकनिर्जरा है। सो यह तप करै ताही कै होय है। सो सम्यग्दृष्टी जीवकै गुणस्थाननिकी परिपाटीमैं भावनिके विशेषतैं गुणश्रेणीनिर्जरा कही है सो यह अविपाकनिर्जरा है। जातैं सम्यग्दृष्टी जीव व्रत, संयम, तपरूप प्रवर्त्तैं हैं तब शुद्धताविशेष होय ताके बलतैं गुणश्रेणीनिर्जरा होय है। ताका स्वरूप सिद्धांततैं जानना ॥ छ ॥

आगै मोक्षतत्वका स्वरूप कहै है।

गाथा :

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेओ स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुधभावो॥३७

अर्थः—जो आत्माका परिणाम सर्वकर्मका नाशकूं कारण होय सो परिणाम तौ भावमोक्ष जाननां। बहुरि सर्वकर्मतैं आत्माका न्यारापणां होनां सो द्रव्यमोक्ष है।

भावार्थः—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकताकी पूर्णता चौदमां गुणस्थानके अंत समय होय है। सो सब कर्मके अभावकूं कारणभूत आत्म-परिणामरूप है सो तौ भावमोक्ष है। जातैं केवलज्ञान भये भी अघातिकर्मके नाशकूं कारण चौदमां गुणस्थानका परिणाम ही है। अर उपयोगकी अपेक्षा केवलज्ञान ही भावमोक्ष है। बहुरि सर्वकर्मका अभाव होय सिद्धिक्षेत्रमै तिष्ठै है तब द्रव्यमोक्ष है ॥ छ ॥

आगै पुन्य-पाप पदार्थकूं कहै है।

गाथाः

सुह-असुह-भावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च ॥३८॥

अर्थ.—शुभ अर अशुभ भावकरि संयुक्त जे जीव हैं ते जीव पुण्य जीव अर पाप जीव है। बहुरि ज्ञानावरणादि आठ कर्ममैं साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र ए तौ पुण्यकर्म हैं। बहुरि अवशेष कर्म हैं ते सर्व पापकर्म हैं।

भावार्थः—इहां ऐसा जाननां—जो पचपरमेष्ठी, जिनधर्म, जिनवाणीकी भक्ति—अनुराग-परिणाम, अर परजीवका उपकार करनेंका परिणाम, अर मंदकषायरूप चित्तकी प्रसन्नता ए तौ शुभ परिणाम हैं। अर पूज्य पुरुषका अनादर, परजीवका बुरा

करनेंका परिणाम, अतितीव्र कषायतैं संक्लेशरूप परिणाम ए अशुभ परिणाम हैं। सो इन परिणामनिकरि संयुक्त जीव है। जे शुभ परिणामी हैं। ते तौ पुण्य-जीव हैं। अर जे अशुभ परिणामी हैं ते पाप-जीव हैं। तहां यहु विशेष है।

जो सिद्धातमैं सम्यग्दृष्टी तो पुण्य-जीव कहै है। अर मिथ्या-दृष्टी पाप-जीव कहै है। तहा कदाचित् मिथ्यादृष्टिकै भी भक्ति आदिका शुभ परिणाम होय, तौऊ तिनकूं पुण्य-जीवनिमैं गिणै नाही। जातैं मिथ्यादृष्टीका शुभ परिणाम ससारकै अर्थि होय है, मुक्तिकै अर्थि होय नांही। तातैं अशुभ ही की पातिमैं है। अैसैं तौ भाव पुण्य-पाप कहे।

बहुरि ज्ञानावरण आदि अष्टकर्म हैं। तिनमैं च्यारि घाति-कर्म तौ पाप ही हैं। बहुरि अशुभ नरक-आयु एक, असाता-वेदनीय एक, नीचगोत्र एक, अर नामकर्मकी प्रकृति चौतीस[1]। अैसैं ए तौ वयासी पाप-प्रकृति हैं। बहुरि सातावेदनीय एक, आयु देव, मनुष्य, तिर्यंच तीन, अर उच्चगोत्र एक, अर नाम-कर्मकी सैंतीस[2] प्रकृति। अैसैं बियालीस प्रकृति पुण्यकर्मकी हैं।

---

१ चौतीस प्रकृति निम्न प्रकार है —नरकगति, तिर्यचगति, एके-न्द्रिय आदि चार जाति, प्रथम सस्थानके सिवा पाँच सस्थान, प्रथम सहनन-के सिवा पाँच सहनन, अप्रशस्त स्पर्श आदि चार, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यं-चगत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, अयश कीर्ति।

२ सैतोस प्रकृति इस प्रकार है —मनुष्यगति, देवगति, पचेन्द्रिय जाति औदारिक आदि पाँच शरीर, औदारिक आदि तीन आगोपाग, समचतुस्र-

सब मिलि एकसो चोईस (१२४) प्रकृति भई। सो बंधरूप प्रकृति एकसो बीस (१२०) गिणिये है। तहां वर्णादिक च्यारि प्रकृति पुण्यमैं भी गिणिये, पापमैं भी गिणिये। तातैं च्यारि वधती होय हैं ॥छ॥

अैसैं सप्त-तत्त्व, नव पदार्थका प्ररूपणरूप दूसरा अधिकार पूर्ण भया ॥छ॥



संस्थान, वज्रर्षभनाराचसंहनन, प्रशस्त स्पर्श आदि चार, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योग, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक-शरीर, स्थिर, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर।

तृतीय अधिकार

आगैं मोक्ष-मार्गका प्ररूपणरूप तीसरा अधिकारका प्रारंभ है। तहां प्रथम ही मोक्ष-मार्गका सामान्य स्वरूप कहै है।

गाथा :

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥३९॥

अर्थ—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ए व्यवहारनयकरि मोक्षके कारण है। बहुरि निश्चयनयकरि तिनि-तीनमयी अपनां आत्मा मोक्षका कारण है ॥छ॥

भावार्थः—व्यवहारनयका विषय भेदरूप है। तातैं आत्माके परिणामनिके भेद जे सम्यक्दर्शनादिक तीन, ते मोक्षके कारण कहे। इहां एक ही द्रव्यके परिणाम है, तातैं या नयकूं सद्भूत-व्यवहार जाननां।

बहुरि पर्य्यायार्थिकनयकू शुद्धद्रव्यार्थिककी मुख्यताकरि अशुद्धनिश्चय भी कहिये है। बहुरि निश्चयनय जो शुद्धनिश्चय-नय; ताकरि तिनि तीननिमयी एक अपना शुद्धचैतन्यपरिणाम-स्वरूप आत्मा, सो ही मोक्षका कारण है। जातैं शुद्धनिश्चयनयका विषय भेदस्वरूप नाही है। तातैं अभेदरूप आत्मा कह्या ॥छ॥

आगैं याहीकूं दृढ करनेंकूं समर्थन हेतु कहै है।

गाथा :

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवियम्हि ।
तम्हा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा॥४०॥

अर्थः—जातैं आत्मा बिना अन्य अचेतन द्रव्यनिविषै रत्नत्रय कहिये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ए नांही वर्त्तैं है। तातैं तीनांमयी आत्मा ही मोक्षका कारण है; यह प्रगट जाणूं॥छ॥

भावार्थः—सम्यक्‌दर्शन आदि तीन चेतनके परिणाम है। तातैं आत्मा बिना अन्य द्रव्यमे ए नांही है। तातैं आत्मा ही मोक्षका कारण भया। ऐसैं कहनेतैं कार्यकारणकै भी अभेद दिखाया है। मोक्षरूप कार्य आत्मा ही होय है। तातैं आप ही कारण है। आप ही कार्यरूप होय है। जिनमतकी कथनी स्याद्वादरूप है। तातैं विरोध नांही ॥छ॥

आगैं सम्यक्‌दर्शनका स्वरूप कहै है।

गाथा :

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ॥४१॥

अर्थ.—जीव आदि षट्‌द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्त-तत्त्व, नव-पदार्थ; तिनिका श्रद्धान जो 'यहु ऐसैं ही है;' 'याही प्रकार है'—ऐसा निश्चय सो सम्यग्दर्शन है। सो यह निश्चय आत्माका परि-णाम है। तातैं आत्माका रूप है। तथा परिणाम-परिणामीकी

अभेददृष्टिमैं आत्मा ही है। सो कैसा है ? दुरभिणिवेश कहिये विप-रीत अभिप्राय, ताकरि रहित है। बहुरि कैसा है ? जाकै होतैं ज्ञान भी सम्यक् नाम पावै है, यह प्रगट जाणूं ॥ छ ॥

भावार्थः—इहां तत्त्वार्थका निश्चयरूप श्रद्धानकूं सम्यग्दर्शन कह्या, सो इह आत्माका रूप है। अर याके होतैं ज्ञान है सो भी सम्यक् नाम पावै है। इहा कोई पूछै—तत्त्वार्थका निश्चय तौ ज्ञान ही है। ताहीका नाम सम्यग्दर्शन कह्या; तो नामभेद तौ भया; अर्थभेद तौ न भया। ताका समाधान—जो सम्यग्दर्शन तौ दर्शन-मोहके अभावरूप आत्माका परिणाम है, सो तो परोक्ष है। ताका निश्चय ज्ञान हीकै द्वारै होय है। जो दर्शन-मोहके अभाव होतैं तत्त्वा-र्थनिकी रुचि—प्रतीति—निश्चयरूप जो श्रद्धान सो ज्ञानमैं प्रगट होय। सो यह सम्यग्दर्शनका चिह्न है—लिंग है। ताकरि अनुमान होय है। जो जाकै यह है, सो सम्यग्दर्शन विना यह होय नाही—तातैं याकै सम्यग्दर्शन है। याहीका नाम 'आस्तिक्य' भी कहिये है। सो अभेदविवक्षातैं कार्यकूं कारण भी कहिये। तातैं याही-कूं सम्यग्दर्शन भी कहिये।

बहुरि याहीकी लार प्रशम, सवेग; अनुकम्पा भी प्रगट होय है। सो अनतानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभका उदयका अभावतैं तौ प्रशम प्रगट होय है, जो अन्यथा तत्त्वार्थनैं रुचि नाही; मध्यस्थ-भाव होय।

बहुरि जो श्रद्धान भया, तातैं प्रीतिरूप परिणाम अर अ-तत्त्वार्थतैं विरक्त परिणाम; यह सवेग है। सो यह अप्रत्याख्याना-वरण आदि कषायनिका उदयतैं होय है। याहीके उदयतैं पर-

जीवकी अनुकम्पा, करुणा तथा रक्षारूप परिणाम होय। तातैं जीवका स्वरूप जाण्या है, तामैं सर्वजीवनिकूं आप समान जाणें है। तातैं सर्व हीकै सम्यग्दर्शनादिरूप मोक्ष-मार्गकी प्राप्ति चाहै है। याहीतैं याकूं सरागसम्यक्त कहिये है। जहां यह भी राग मिटै, तहां वीतरागसम्यक्त नाम पावै है। परमार्थतैं सम्यक्त तौ वीतराग ही है। जातैं अनन्तानुबंधी मिथ्या-तत्त्वार्थतैं प्रीति करावै था, सो मिट्या। परन्तु चारित्रमोहका उदय है। सो राग-परिणाम आत्माका वणि रह्या है। सो सम्यग्दर्शनकी लार प्रवर्तै है। तातैं सराग कहिये है।

बहुरि सम्यक्दर्शनके निशकितपणां आदि अन्य भी चिह्न प्रगट होय है ते अन्य शास्त्रनितैं जांननै। बहुरि आस्तिक्य आदि चिह्न मिथ्यादृष्टी, सम्यक्दृष्टीके बाह्य क्रियातैं समान दीखै ताकी परीक्षा कीयें निश्चय होय है। संक्षेप तत्वार्थका अनेकांत-स्वरूप है। सो सप्तभंगतैं पदार्थकूं अनेकान्तरूप समझि श्रद्धान करै। ताकै अनुसार वचनकी अर कायकी प्रवृत्तितैं परीक्षा होय है। सो इस विशेषकूं सम्यग्दृष्टी ही जाणैं है। परीक्षामैं भी जो विवाद होय तौ गुरुसंप्रदायके अभावतैं अज्ञानकरि होय है।

बहुरि यथार्थ तत्त्वार्थ समझै, तब विपरीत अभिप्रायकरि रहित होय। संसार-सम्बन्धी फलकी वांछामात्र ही तत्वार्थश्रद्धानकूं न मानैं, यह श्रद्धान मोक्षकै अर्थि है ऐसा अभिप्राय होय।

बहुरि 'विपरीत अभिप्रायतैं रहित' ऐसा सम्यक्ज्ञानका विशेषण भी करिये है। जो ज्ञान विपरीत कहिये अन्यथा

तत्त्वार्थकूं मिथ्यात्वके उदयके निमित्ततैं जानैं, अभिप्रायमैं ले सो मिथ्याज्ञान है, तिसतैं रहित सम्यक्ज्ञान है ।

बहुरि ज्ञान भी सम्यक् नाम तब ही पावै । शास्त्रनिका पढनेरूप तत्त्वार्थनिकूं भी जो जानि ले, जैसा-का-तैसा परकूं समझाय दे, तौऊ सम्यग्दर्शन बिना सम्यक् नाम न पावै । ऐसा सम्यग्दर्शनका माहात्म्य—बडाई है। याके होतैं मोक्षमार्ग ही भया कहिये। जातैं इह होय तहा विशिष्ट सम्यग्ज्ञान अर सम्यक्चारित्र आवै हीगा। जोलग ता सम्यग्दर्शन रहै, अर क्षायिक सम्यक्त्व होय जाय, तौ ससार सात-आठ भव ही मात्र रहै । क्षायक भयें पीछै चौथै भव अवश्य मोक्षप्राप्ति होय। अर जो एक बार सम्यक्त्व होय नष्ट भी होय जाय, तौ उत्कृष्ट तौ अर्द्धपुद्गलपरावर्त[न]काल संसार रहनां कह्या है, सो अनंत परावर्तन अपेक्षा यह भी अल्प ही है।

बहुरि सम्यक्त्व भये पहलै जो आयु न बंध्या होय तौ सम्यग्दर्शन भये पीछै मनुस, तिर्यंच तौ कल्पवासी देव ही का पर्याय पावै । अर देव है सो उत्तम मनुष्य ही होय। ऐसा माहात्म्य आगममैं कह्या है । ताकी श्रद्धा करनी ।

बहुरि इस सम्यग्दर्शनके बाह्य साधन देव, शास्त्र, गुरु है । सर्वज्ञ-वीतराग देव, स्याद्वाद आगम, अध्यात्मरूप शास्त्र, निर्ग्रन्थ गुरु, तिनिकों यथार्थ जानि श्रद्धान करनां । जातैं इनि सिवाय अन्यका सेवनतैं विपरीत श्रद्धान होय है । अर जाकै यथार्थ तत्त्वार्थका श्रद्धान होय, सो इनिहीकूं उपकारी जानि सेवै। अन्यकूं संसारी जानै । तब काहेकूं सेवै ? शास्त्रनिमै देव, शास्त्र, गुरुके श्रद्धानकूं भी सम्यक्त्व कह्या है। सो यह भी उपचाररूप असद्भूत-

व्यवहारतैं प्रमाण है। जातैं जो जीवादिकका श्रद्धान भया होय तब तौ यह भी श्रद्धान जीवादिकके श्रद्धानका भेद है सो सम्यग्दर्शन है ही। अर जो जीवादिकका श्रद्धान न भया होय, अर देव, शास्त्र, गुरु ही का श्रद्धान भया होय तौ यह श्रद्धान जीवादिकके श्रद्धानकूं निमित्त होयगा। तातै इह भी व्यवहारकरि सम्यग्दर्शन ही कहिये। स्याद्वाद—जैनागमकी कथनी अनेकरूप अविरोध जननां। विवक्षा जहां-जैसी होय, तैसी समझि लेणी। बहुरि तत्त्वार्थका विशेष स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी टीकातैं जाननां ॥छ॥

आगैं सम्यक्ज्ञानका स्वरूप कहै है।

गाथा :

संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।
गहणं सम्मं णाणं सायारमणेयभेयं तु ॥४२॥

अर्थः—जो अपनें आत्माका अर परका संसय, विमोह, विभ्रमकरि रहित जैसा-का-तैसा ग्रहण जा ज्ञानमैं होय, सो ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। सो ऐसा ज्ञान साकार कहिये। जातैं जामैं पदार्थका भेदरूप आकार प्रतिभासै है। सामान्य अवलोकनरूप दर्शनमैं आकार नांही। सत्तामात्र प्रतिभास होय जातैं। सो दर्शन निराकार है। बहुरि या ज्ञानके मतिज्ञान आदि परोक्ष-प्रत्यक्षरूप अनेक भेद है ॥छ॥

भावार्थः—इहां संशय तौ दोय तरफ निश्चय-रहित ज्ञान होय, सो है। जैसैं श्वेत सीपका वर्ण देखि जाणै जो यह सीप है कि रूपा है।

बहुरि 'किछू है' इस स्वरूप ज्ञान होय, सो विमोह है। जैसैं चलतैं तृणादिकका स्पर्श भया, तहां जाएयां न जाणिये कहा है। बहुरि अन्यथा—एकतरफ निश्चय होय, सो विभ्रम है। जैसैं सीप था, ताकूं रूपा जाण्या। ऐसैं ए तीन अन्यथाज्ञान है। सो जहां अपनां-परका स्वरूप इन संशय, विमोह, विभ्रमकरि रहित जानैं सो सम्यक्ज्ञान है। याके अनेक भेद है। मतिज्ञान इन्द्रिय-मनतैं उपजै है। तिस पूर्वक श्रुतज्ञान है। तामैं मनकै द्वारै शास्त्रका ज्ञान होय सो श्रुतज्ञान प्रधान है। या करि नाम-सहित तत्त्वार्थनिका स्वरूप नीकै जाण्या जाय है। याकूं केवल-ज्ञानकै जोडै कहिये है। प्रत्यक्ष-परोक्षका ही का भेद है।

बहुरि अवधि, मनपर्यय है सो सातिशय ज्ञान है। इनिकूं विकलप्रत्यक्ष कहिए है। बहुरि केवलज्ञान है सो सर्वप्रत्यक्ष ज्ञान है। यह उपमारहित है। या ही तैं सर्वज्ञ कहावै है। अन्यमती अपने देवकूं सर्वज्ञ कहै है। सो कल्पित बात है। जिनमार्ग विना सर्वज्ञ होय नांही। सर्वदेश-कालकी एक काल प्रत्यक्ष जानैं तब सर्वज्ञ होय। सो अन्य मतीनिकै सर्वदेश-कालकी कथनी ही यथार्थ नाही; तब सर्वज्ञ काहेका? ऐसैं पांच भेदरूप सम्यग्ज्ञान है। परमार्थतैं ज्ञान एक है, सो जांणपणा मात्र है। सो छद्मस्थ ज्ञानीकै अपने स्वरूपका ज्ञानका अनुभवतैं होय। तिस मात्र आपकूं जानै, परद्रव्यकूं। पर जानै, ज्ञानमैं भेद है तिनिकूं कर्मके निमित्ततैं जानैं।

बहुरि कर्मका सर्वथा अभाव भये ज्ञान सर्वका जाननेंवाला है सो मेरा स्वरूप है, ऐसा आगमतैं निश्चय करै। ऐसा अभेद-

रूप ज्ञान अपनां रूप जानै सो सम्यक्ज्ञान है। सो दर्शनमोहके अभावतैं श्रद्धापूर्वक यह होय, तब सम्यक् नाम पावै है। अर दर्शनमोहके उदयके स्थानक बहुत है। ताके अतिसूक्ष्म केतेक स्थानक है, ते छद्मस्थके जानने योग्य नाही है। तिनिका अभाव कैसै जानै? जैसैं सर्वज्ञ-आगममैं कह्या है तैसैं अपने अनुभवगोचर होय, तिनिका तौ अभावकूं जानिले, सिवाय सर्वज्ञ जानै है, सो प्रमाण है।

ऐसैं सर्वज्ञके आगमकूं अपने मस्तक राखै, तब सम्यक्दृष्टी कहिये। अर जो अपने ही अनुभवका एकात करि हठ गहै हैं सो सर्वज्ञकी आज्ञातैं प्रतिकूल है, सम्यग्दृष्टी न कहिए। अपनां अनुभव तौ मति-श्रुत ज्ञानकै आश्रय है। अर मतिज्ञानमैं इंद्रिय-बुद्धिकूं व्यवहारकरि प्रत्यक्षप्रमाण कह्या है। परमार्थतैं यह भी परोक्ष ही है। जातैं वस्तुका पूर्ण रूपकूं यह जानैं नाही है। सो अपनां अनुभवकै व्यवहारकरि प्रमाणता है। ताकू कथचित् निश्चय भी कह्या है। जातैं सम्यक्दर्शनका विषयभूत आपा-परका, अर हिताहितका, अर तिनिके कारनका संक्षेप ज्ञान होनें की योग्यता सैंनी पचेंद्रिय सर्वजीवनिकै है। सो जिनिकै सम्यग्दर्शन होय, तिनिकै यह तिसका संक्षेप विषयभूत ज्ञान सर्वकै समान होय है। ताका बांधनेवाला कोईका ज्ञान नांही। अर जाकै सम्यग्दर्शन न होय, ताकै भी ताके बांधनेंकी योग्यता नांही। ऐसा निर्बाध-विषयरूप ज्ञान होय सो निर्बाध व्यवहार ज्ञान है। इस अपेक्षा ताकूं निश्चय भी कहिये। परमार्थतैं यामैं सूक्ष्म बाधा-निर्बाधापणा सर्वज्ञ जानै है। ते कहै, सो प्रमाण है

अैसा श्रद्धान चाहिये। या ही तैं सर्वज्ञकी आज्ञा प्रधान है। जो एकांतकरि अपनां ही अनुभवप्रमाणकै आश्रय रहै, सर्वज्ञकी आज्ञा प्रमाण न करै, सो मिथ्याद्रष्टी है, अैसा जाननां ॥छ॥

आगैं सामान्यावलोकनस्वरूप दर्शनकै अर ज्ञानकै भेद दिखावनेकूं दर्शनका स्वरूप कहै है।

गाथा·

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समये ॥ ४३ ॥

अर्थः—जो अर्थ कहिये पदार्थ—वस्तु, ताके विशेष न करि अर पदार्थका सामान्यसत्तामात्रका ग्रहण होय सो सिद्धांतमैं दर्शन कहिए है। कैसा है यह ग्रहण? पदार्थकै आकार करनेकूं समर्थ नाही है, अनाकार ग्रहण है यहै।

भावार्थः—ज्ञान तो साकार है। वस्तुकूं—सामान्य-विशेष-रूपकूं भेदरूप आकारसहित जानै है। अर यहु दर्शन है, सो सत्तामात्र अनाकार सामान्यरूपकू ग्रहण करै है। यहु ज्ञान—दर्शनमैं भेद है।

बहुरि इहु दर्शन सम्यक्दर्शन भी नाही है। जातैं सम्यक्त साकार ज्ञानविषै श्रद्धारूप है। सो श्रद्धा भी साकार ही है। निराकार दर्शन सम्यक्त नांही ॥ छ ॥

आगैं यहु दर्शन कौन काल प्रवर्त्तै है, सो कहै है।

गाथा·

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥ ४४ ॥

अर्थः—छद्मस्थ ज्ञान (नी) कै पहलै दर्शन होय है। पीछै लगता ही ज्ञान होय है। जातैं छद्मस्थकै एककाल दो उपयोग होय नांही। तातैं दर्शनपूर्वक ज्ञान है। बहुरि केवलज्ञानीकै दो उपयोग एककाल ही होय है ॥छ॥

भावार्थ—छद्मस्थ कहिये क्षायोपशमिक ज्ञानी, ताकै पहलैं तौ वस्तुका सत्‌मात्र सामान्य ग्रहण होय है। पीछैं भेदरूप आकार-सहित ज्ञान होय है। जैसैं इंद्रिय पहलैं पदार्थसूं भिडै। तब सत्तामात्रका पहलैं ग्रहण होय, पीछैं ताकू जानैं जो यह घट है, तथा पट है, इत्यादि मतिज्ञान होय है। तिस पूर्वक पीछैं श्रुतज्ञान होय है। इत्यादि जानना।

छद्मस्थकै एककाल दर्शन-ज्ञान दोऊ उपयोग होय नांही। केवलीकै क्षायिक है। तातैं दोऊ उपयोग युगपत् होय है।

बहुरि या दर्शनका ऐसा भी व्याख्यान है। जो दर्शन तौ पहलै सामान्यमात्र आत्माकूं देखै है। पीछैं तिस पूर्वक ज्ञान प्रवर्त्तै है। सो जैसैं आगममैं व्याख्यान है, तैसैं प्रमाण है। विवक्षाका विचित्रपणातैं विरोध नांही ॥छ॥

आगैं सम्यक्चारित्रका स्वरूप कहै है। तहां प्रथम ही व्यवहारचारित्रकूं कहै है।

गाथा :

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥ ४५ ॥

अर्थः—अशुभतैं तौ निवृत्तिकरना, शुभकै विषै प्रवृत्ति करनां

सो व्यवहारनयकरि चारित्र है। सो कैसा है—व्रत, समिति, गुप्ति इन स्वरूप है। ऐसा जिनसर्वज्ञदेवनैं कह्या है। सो जाणू ॥छ॥

भावार्थः—विषय-कषायरूप तीव्र परिणाम, खोटे ही शास्त्रनिकी रुचि, दुष्ट परिणाम, उन्मार्ग-प्रवर्त्तनमैं तत्परपनां इत्यादि अशुभोपयोगतैं रहित होय। अर इस अशुभोपयोगतैं विलक्षण मदकषाय, विषयादिकतैं निवृत्ति, वीतरागकी भक्ति, परजीवनिके उपकाररूप इत्यादि शुभोपयोगविषैं प्रवर्त्तनां, सो व्यवहारनयकरि चारित्र है। याके भेद—पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्तिरूप प्रवर्त्तना ते है। यह शुभोपयोग है सो आत्माका सराग परिणाम है।

इहा अशुभकी निवृत्ति भई सो तौ निश्चयचारित्रका अंश है। अर शुभकै विषै प्रवृत्ति भई सो व्यवहारनयकरि चारित्र कहिये है। परिणाम आत्मा ही का है, तातै अशुद्धनिश्चयनय कहिये, याहीकूं सद्भूत व्यवहार कहिये।

बहुरि परजीवकी दया करनी, असत्य वचन न कहना, परद्रव्यका ग्रहण न करना, स्त्रीका प्रसग न करनां, परद्रव्यकूं त्यागना, यत्नतैं चालना, यत्नतै बोलनां, यत्नैं खानां, यत्नतैं उठावना-धरना, यत्नतैं क्षेपनां। मन, वचन, काय वसि करना, इनिकूं चारित्र कहना, सो यह असद्भूतव्यवहाररूप उपचारनयकरि चारित्र कहिए। जातैं परद्रव्यविषै प्रवर्त्तनेकू चारित्र कह्या।

इहां प्रयोजन अर निमित्तके सद्‌भावतैं उपचार आया है। याके भेद श्रावकके तौ सम्यक्द्रष्टी आदि अर ग्यारह प्रतिमा ऐसैं बारह भेद कीये है। तहाँ सम्यग्द्रष्टीकै अनंतानुबंधीकै अभाव रूप श्रद्धानका आचरण है। तिसमात्र चारित्र कहिये, व्रत नांहीं। तातैं अव्रती है। बहुरि ग्यारह प्रतिमामैं एकदेश व्रत है। तातैं अणुव्रती कहिये है। सो यह पाचवै गुणस्थान है। बहुरि मुनिके व्रत छठा गुणस्थानतैं है। तहां महाव्रत, समिति, गुप्तिरूप तेरह प्रकार चारित्र है। सो ए सर्व आत्मपरिणामके भेदनैं अशुद्धनिश्चयरूप सद्भूतव्यवहार अर परद्रव्यविषैं प्रवृत्तिकी मुख्यताकरि असद्भूतव्यवहारनयकरि चारित्र जाननां ॥छ॥

आगैं निश्चयचारित्रकूं कहै है।

गाथा :

बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥४६॥

अर्थ—जो बाह्य-अभ्यंतर क्रियाका रोकना सो ज्ञानीकै परम—उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र भगवान सर्वज्ञदेव कह्या है। क्रिया रोकना अन्य प्रकार भी होय है। ताके निषेधकूं कहै है। जो संसारके कारण आस्रव-बंध, ताके नाश करनैंकै अर्थि क्रिया रोकै ॥ छ ॥

भावार्थः—बाह्य क्रिया तौ मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिरूप अर अभ्यन्तर क्रिया उपयोगका राग-द्वेषरूप होना इनि क्रियाकूं न करै, उपयोगकू स्वरूपविषै लगावै। बहुरि सम्यक्ज्ञानी होय

लगावै। जातैं अन्यमती सत्चिदानंदस्वरूप आत्माकूं सर्वथा एकांतके अभिप्रायतैं मानि तिस विषै उपयोग थांभै है। तौऊ पदार्थका स्वरूप अपनेकांत है। तैसैं ही आत्मा अनेकान्त-स्वरूप है, ऐसी मानिके अभावतैं ताके मिथ्याज्ञान है। तातैं ताकै सम्यक्चारित्र न कहिये, मिथ्याचारित्र ही है।

बहुरि संसारके कारण जे राग-द्वेष-मोहभाव ताके नाशकै अर्थि उपयोगकूं थांभै है, ताकै सम्यक्चारित्र है। अन्यमती तौ आत्माका तथा राग-द्वेष-मोहका स्वरूप ही अन्यथा मानै है। आस्रव-बंधतत्व मानै ही नांही। तिनिकै तौ यह संसारकी निवृत्ति करनेरूप प्रयोजन ही नांही।

बहुरि मन, वचन, कायकी क्रिया तथा उपयोगकी एकाग्रता लौकिक जन भी संसारीक प्रयोजनकै अर्थि करै है। तिनिकै यह सम्यक्चारित्र न कहनां। यह शुद्धनिश्चयनयकरि अभेद—एक-रूप शुद्ध आत्मामैं थिर होनां चारित्रका स्वरूप है। व्यवहार-चारित्रमैं याके अंशरूप पर्यायार्थिकनय ताकूं अशुद्धनिश्चयनय कहिए तथा सद्भूतव्यवहार कहिये। तामैं जेता अंश क्रियाकी निवृत्ति है, सो याके अश है। अर प्रवृत्ति है सो चारित्र है नांही। प्रवृत्तिकूं चारित्र कहनां सो ही व्यवहार।

बहुरि प्रवृत्ति है सो शुभ है, मंदकषायरूप है। तातैं पुण्यप्रकृतिनिका अनुभाग तीव्र बांधै है। पाप-प्रकृतिनिका अनुभाग मन्द बंध करै है। निवृत्ति है सो निर्जरा करै है। दोऊ एककाल प्रवर्त्तै है। ऐसैं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चयव्यवहारस्वरूप मोक्षमार्ग कह्या। तहां निश्चयचारित्र सो

बंधका कारण नांही है। अर यामैं जेता अंशा राग मिलै है। सो अघातिकर्मकी पुण्यप्रकृतिका अनुभाग तीव्र बंध करै है। अर रागरहित वीतरागचारित्र समस्त कषायनिके अभावरूप ग्यारमां, बारमां गुणस्थानविषै होय है। तहां बंधका अभाव है। योगके निमित्ततैं सातावेदनीयका आस्रव है। सो स्थिति समयस्थायी है। इर्यापथस्वरूप है। सो अबंधतुल्य ही है। ऐसैं जाननां ॥ छ ॥

आगैं ध्यानका स्वरूप कहै है। तहां प्रथम ही ध्यान करनेंको उपदेश करै है।

गाथा :

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥४७॥

अर्थ:—निश्चय-व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, मोक्षका कारण जो कह्या सो इह नियमतैं ध्यान होतैं संतै मुनि पावै है। तातैं अहो साधुजन हौ ! तुम यत्नरूप सर्वप्रकार उद्यमकरि एकाग्रचित्त भये संते ध्यानका अभ्यास करौ ॥छ॥

भावार्थ:—ध्यानकूं मोक्षमार्गका उद्यम अर उपयोगस्वरूप कह्या है। तातैं उपदेश कीया है। जो मोक्षमार्गकी प्राप्ति चाहो हौ तौ ध्यानका अभ्यास करौ। ध्यानका स्वरूप समस्त राग-द्वेष-मोहरूप विकल्पतैं रहित होय एकाग्रचित्त करनां है। सो याके होतैं बाह्य तौ हिंसादिक पापनितैं निवृत्ति होय है। अर अंतरंग-स्वरूपविषै थिरता होय है। तब व्यवहार-निश्चयरूप मोक्षमार्ग

होय है । यह मोक्षमार्गकी प्राप्ति करनेकूं बड़ा उद्यम है । तातैं श्रीगुरुनिनैं याका उपदेश कीया है ॥छ॥

आगैं ध्याता पुरुष ध्यान कैसैं करै, सो कहै है ।

गाथा

मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु ।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥४८॥

अर्थ.—हे मुनिजन हो ! तुम संसारके इष्ट-अनिष्ट पदार्थनि विषै मोह—ममत्वभाव मति करो । राग—प्रीति मति करो । अप्रीतिरूप द्वेष मति करो । जो विचित्र जो धर्म-शुक्ल ध्यान ताकी सिद्धिकै अर्थि अपनां चित्तकूं थिररूप एकाग्र कीया चाहो हौ तो समस्त विकल्प छोडो ॥ छ ॥

भावार्थ —जहा ताई ससार-देह-भोगसबंधी पदार्थनिकी निवृत्ति न होय तहां ताई राग-द्वेष-मोहरूप विकल्प मिटै नांही, चित्त अपने स्वरूपकै विषै थिर होय नाही ।

बहुरि संसार-देह-भोगसंबंधी पदार्थनिका त्याग करि मुनि-पद भी धारै । अर तहा भी शुभ कार्यका उपदेश, सघकूं धर्ममैं प्रवर्त्तावनां, यत्नपूर्वक आहार-विहार आदि करनां इत्यादि कार्य-निका विकल्प रहैं भी चित्त एकाग्र होय नाही । तातैं उपदेश कीया है । जौ ध्यानकी सिद्धिकै अर्थि थिर चित्त कीया चाहै है, तिनिकूं समस्त विकल्प छोडनां योग्य है ।

बहुरि ध्यानका 'विचित्र' ऐसा विशेषण कीया, सो चित्त-की विशुद्धताके हीनाधिकपणातैं तथा ध्यान करने योग्य ध्येय

वस्तुके, भेदनितैं, धर्म, शुक्ल अर तिनके भेदनितैं ध्यान अनेक प्रकार है। तिनिका कथन तत्त्वार्थसूत्रकी टीकातैं जाननां ॥छ॥

बहुरि धर्म-ध्यानकी रीति पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ऐसैं च्यारि प्रकार भी कही है। ताकूं आचार्य मनमैं धारि पंचपरमेष्ठीका वाचक जे अक्षर, तिनके समुदायरूप पद, तिनिका उच्चार करनां—ध्यांन करनां, यह पदस्थ ध्यांन है, ऐसा कहै है।

गाथा :

पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठि-वाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥४९॥

अर्थः—पच परमेष्ठीके वाचक अक्षर है। सो पैंतीस है, सोलह है, छह है, पांच है, च्यारि है, दोय है, एक है। तिनकूं हे साधुजन हो! तुम जपो—ध्यावो। बहुरि अन्य भी परमेष्ठीके वाचक मंत्र-वाक्य है, सो गुरु बतावै, तिनकूं जपो—ध्यावो ॥छ॥

भावार्थ—परमेष्ठीके वाचक अक्षर पैंतीस तौ नमोकार मन्त्र है, सो प्रसिद्ध है।

बहुरि 'अरहंत, सिद्ध, आइरिय, उवज्झाय, साहू' ए सोलह है। बहुरि 'अरहंत सिद्ध' ए छह अक्षर है। बहुरि 'अ सि आ उ सा' ये आदि अक्षररूप पांच है। बहुरि 'अरहंत' ए च्यारि अक्षर है। बहुरि 'सिद्ध' ए दोय अक्षर है। बहुरि 'अ' ऐसा अरहंतका आदि अक्षर अथवा 'ॐ' ऐसा पंच परमेष्ठीका आदि अक्षरनितैं उपज्या। सो कैसैं? अरहंतका आदि 'अकार, सिद्ध-

—असरीरका आदि 'अकार', आचार्यका 'आकार,' उपाध्यायका 'उकार,' साधु—मुनिका 'मकार'। ऐसैं 'अ अ आ उ म्' इनिकूं संधिसूत्रतैं मिलाये 'ॐ' ऐसा भया। इनि अक्षरनिकूं वचन-द्वारकरि जपना, चित्त-एकाग्रतैं ध्यान करनां। बहुरि इनिके वाच्यरूप अर्थ जे पंचपरमेष्ठी, तिनिका गुणनि सहित इनि अक्षरनिविषै आरोपण करि ध्यांन करनां, सो पदस्थ ध्यांन है ॥छ॥

आगैं पचपरमेष्ठीका ध्यान, तिनिका स्वरूप विचारि, करना। सो कैसैं करना? ऐसैं तिनिका स्वरूपपूर्वक ध्यानका उपदेश करै है, तिस ही कथनमैं पिण्डस्थ, रूपस्थ, रूपातीत भी गर्भित है ॥ छ ॥

तहाँ प्रथम ही अरहंतका स्वरूपका ध्यानकूं कहै है।

गाथा :

णट्ठ-चदु-घाइकम्मो दंसण-सुह-णाण-वीरिय-मइओ।
सुह-देहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥५०॥

अर्थ—नाशकूं प्राप्त भये है च्यारि घातिकर्म्म जाके। बहुरि दर्शन; सुख, ज्ञान, वीर्य इन अनंतचतुष्टयमयी है। बहुरि शुभ देह कहिए परम औदारिक शरीर विषै तिष्ठ्या। बहुरि शुद्ध ऐसा आत्मा अरहंतकूं चितवन करना।

भावार्थ—परम औदारिक देहमै तिष्ठ्या, घातिकर्मतैं रहित, अनंतचतुष्टयसहित, अठारह दोषनितैं रहित शुद्ध। बहुरि 'अर्हंत्' शब्दकरि पंचकल्याणकी पूजा जानैं पाई, ऐसा आत्माका स्वरूप

चितवनां, तिस विषै एकाग्र चित्त करनां, इह 'अरहंत' स्वरूपका ध्यांन है।

बहुरि पिंड नाम देहका है। तामैं तिष्ठ्याकूं चितवै, तातैं याकूं पिंडस्थ ध्यान भी कहिये। तथा अरहंतका नामतैं 'पदस्थ' भी कहिये। बहुरि अरहंतका स्वरूप चितवनतैं 'रूपस्थ' भी कहिये ॥ छ ॥

अब सिद्ध परमेष्ठीका स्वरूपका ध्यानकूं कहै हैं।

गाथा :

णट्ठट्ठ-कम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोय-सिहरत्थो ॥५१॥

अर्थः—नष्ट भये है ज्ञानावरण आदि कर्म अर औदारिक आदि देह जाकै। बहुरि लोकालोकका जाननहारा अर देखनहारा है। बहुरि पुरुषकै आकार है। बहुरि लोकका सिखरविषै तिष्ठ्या है, ऐसा आत्मा सिद्ध है। ताकूं हे मुनिजन हो! तुम ध्यावो ॥छ॥

भावार्थ—कर्म, नोकर्म, भावकर्मतैं रहित केवलज्ञानदर्शनसहित, अमूर्तीक पुरुषके आकार, लोककै अंत तिष्ठ्या, ऐसा आत्मा सिद्ध है। ताका ध्यान करनां यह 'सिद्ध' ऐसा नामतैं, तौ 'पदस्थ' ध्यान कहिये। तथा रूपरहित 'रूपातीत' ध्यांन कहिये ॥ छ ॥

आगैं आचार्य परमेष्ठीका ध्यानका स्वरूप कहै है ।

गाथा :

दंसण-णाण-पहाणे वीरिय-चारित्त-वरतवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ सो आइरिओ मुणी झेओ ।।५२।।

अर्थः—दर्शन, ज्ञान है प्रधान जिनिमैं, ऐसे वीर्य, चारित्र, श्रेष्ठ तप इनि पाच आचारनि विषैं आपकूं अर परकूं जो युक्त करै, ऐसा मुनि आचार्य है, सो ध्येय है ।।छ।।

भावार्थः—जो मुनि पांच आचार आप आचरै, परकूं लिवावै, सो ध्येय है—ध्यानका विषय है—ऐसेका ध्यान कीजिए। पांच आचारमैं सम्यग्दर्शनाचार तौ निशंकितादि गुणनि सहित पचीस मल—दोषरहित है ।

बहुरि सम्यक्ज्ञानाचार अष्ट अग ज्ञानके सहित है । सम्यक्चारित्राचार पंच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति सहित है। तप-आचार बाह्य-आभ्यंन्तर भेदतैं बारह प्रकार है । वीर्य्याचार अपनी शक्तिकूं छिपावै नांही । सामर्थ्य होय, परीसहादिक सहै, सो उग्र तप करि शक्ति बधावनी, ऐसा है । यह तौ व्यवहारनयकरि पांच आचार है ।

बहुरि निश्चयनयकरि अपनां शुद्ध आत्मा समस्त विकार-भावनातैं रहित वीतराग-ज्ञानानंदमयीमैं लीन होना, सो है । तिसहीके भेदविवक्षाकरि पांच भेदरूप बाह्य प्रवृत्तिकूं लार लगाय दिखाये है ते व्यवहारके विषय हैं ।।छ।।

आगैं उपाध्याय परमेष्ठीका स्वरूपका ध्यानकूं कहै है।

गाथा :

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो।
सो उवझाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥५३॥

अर्थः—जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ए रत्नत्रय, तिनिकरि युक्त है। बहुरि नित्य ही धर्मके उपदेश विषै तत्पर है, सो उपाध्याय आत्मा है। कैसा है? बड़े यतीनिमैं प्रधान है। तिस उपाध्यायकै अर्थि नमस्कार होहु ॥छ॥

भावार्थः—रत्नत्रयकरि युक्त अर निरंतर दशलक्षण धर्मका उपदेश साधुनिकूं दे। याही तैं मुनिनिमैं प्रधान, अंग-पूर्वनिका जाकूं ज्ञान, असा आत्मा उपाध्याय ध्येय है। ताके अर्थि नमस्कार कीयां। याका ध्यान करनां ॥छ॥

आगैं साधु परमेष्टीका ध्यानकूं कहै है।

गाथा .

दंसण-णाण-समग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥५४॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन-ज्ञानकरि परिपूर्ण जो चारित्र, सो ही मोक्षका मार्ग, ताहि प्रगटपणै निरंतर शुद्ध—निर्दोष साधै, सो मुनि—साधु है। ताकै अर्थि नमस्कार होहु ॥छ॥

भावार्थः—जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षका मार्गकूं निरंतर निर्दोष साधै, सो प्रगटपणै साधु है। तिनिकूं नमस्कार कीया। यह ध्येय स्वरूप है—याका ध्यान करनां ॥छ॥

अैसैं पंचपरमेष्ठीका स्वरूपकूं ध्यावनां। निश्चयकरि ए पांच पद आत्मा ही विषै पाईए है। तातैं भेदनयकरि पांच पद है। अभेदनयकरि वीतरागभाव एक सर्वमैं व्यापक है। सो ही ध्येय है। अपनें आत्माकूं ज्ञानानंदस्वरूप वीतराग ध्यावणां, इसमैं पांचू पद आय गये। अैसैं भेदरूप व्यवहारनय साधन है। निश्चयनय साध्य है। साध्यकी सिद्धि भयें पीछै नयका आलंबन नाही है। आप रूप निजाज (?) है ॥छ॥

आगैं निश्चयध्यांनकूं कहै है।

गाथा :

जं किंचि वि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयं झाणं ॥५५॥

अर्थः—जिस काल साधु एकाग्रताकूं प्राप्त होय करि इच्छासूं रहित वृत्तिरूप होय, तिस काल जो किछू वस्तु ध्येयरूप होय, तिस हीकूं चितवता संता एकाग्र होय सो ध्यान ताकै निश्चय ध्यान कहिए ॥छ॥

भावार्थ—जब मुनि ध्यांन करै तब किसी ध्येयका ध्यांनकी इच्छा मिटि जाय, तब चित्तकी वृत्ति वीतराग होय जाय, तब ज्ञानमैं किछू ध्येय वस्तु आवै, ताही परि एकाग्रता होय। अपनैं इच्छाका अभावतैं शुद्ध ज्ञान भया। तिस ही विषै आप एकाग्र है। ज्ञानका स्वभाव जाननैंका है। तामैं किछू ज्ञेय आवो, तिसआकार-रूप ज्ञानका ध्यांन भया ज्ञान है, सो आप है। वहा आपहीकूं चितवनरूप कीया, अैसैं निश्चयध्यांन ज्ञानस्वरूप आत्माका है।

ज्ञेयका आकार ज्ञान भया, तहां ज्ञेय प्रधान नाही; इच्छा मिटि शुद्ध भया, तब ज्ञानमैं चाहो सो आवो, ज्ञान ही का ध्यान है। ऐसैं या गाथामैं ज्ञान ही कै ध्येयपणांकी प्रधानता जाननी। अन्य ध्येयकी प्रधानता नांही है ॥छ॥

अब उत्कृष्ट ध्यानको रीति कहै है।

गाथा :

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंचि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं ॥५६॥

अर्थः—हे मुनिजन हौ! तुम कायकी चेष्टा किछू भी मति करौ। वचनकरि किछू भी मति कहौ। मनकरि अन्य किछू भी चितवन मति करो। जाकरि आत्मा आत्मा ही विषै थिरीभूत भया लीन होय। यहु परम उत्कृष्ट ध्यान है ॥ छ ॥

भावार्थः—मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिकूं सर्व प्रकार मेटि अपनैं निर्विकार शुद्ध चैतन्य—दर्शन-ज्ञानोपयोगमैं लीन होनां सो उत्कृष्ट ध्यान है। याहीका नाम निश्चय मोक्षमार्ग है। याके पर्याय नाम अनेक हैं। शुद्धात्मस्वरूप, परमात्म-स्वरूप; परमहंसस्वरूप, शुद्धनंयका व्याख्यान, परमब्रह्मस्वरूप; विष्नुस्वरूप, शिवस्वरूप, बुद्धस्वरूप, जिनस्वरूप, सिद्धस्वरूप, निरंजनस्वरूप, निर्मलस्वरूप, स्वसवेदनज्ञान, परम तत्त्व ज्ञान शुद्धात्मदर्शन, परमावस्थास्वरूप, परमात्माका दर्शन, शुद्धपारिणामिक-भावस्वरूप, ध्यानभावनास्वरूप, शुद्धचारित्र, अंतस्तत्व, परम-तत्त्व, शुद्धात्मद्रव्य, परमज्योति, शुद्धात्मानुभूति, आत्मप्रतीति, आत्मसंवित्ति, स्वरूपोपलब्धि, नित्योपलब्धि, परमसमाधि,

परमानंद, नित्यानंद, सहजानंद, सदानंद, शुद्धात्मपदार्थाध्ययनरूप, परमस्वाध्याय, निश्चयमोक्षोपाय, एकाग्रचितानिरोध, परमबोध, शुद्धोपयोग, परमयोग, भूतार्थ, परमार्थ; निश्चयपंचाचार, समयसार, अध्यात्मसार, अभेदरत्नत्रयस्वरूप, वीतरागसामायिक, उत्तममंगल, केवलज्ञानोत्पत्तिकारण, सकलकर्मक्षयकारण, निश्चयआराधना, परमभावना; परमकला, परमाद्वैत, परमधर्मध्यान; शुक्लध्यान, परमस्वास्थ्य, परमवीतरागता, परमसाम्य, परमएकत्व, परमभेदज्ञान, परमसमरसीभाव, इत्यादि शुद्धध्यानके नाम हैं ॥ छ ॥

आगैं शुद्ध ध्यानकी प्राप्तिकै अर्थि उपदेश करि या कथनकूं संकोचै है ।

गाथा ।

तव-सुद-वदवं चेदा झाण-रह-धुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तिय-णिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥५७॥

अर्थ.—अहो मुनिजन हौ ! जातैं तपवान, श्रुतवान, व्रतवान, आत्मा ध्यानरूप रथका धुरिका धारनैंवाले धोरी होय है । तातैं तुम तिस ध्यानकी प्राप्तिकै अर्थि तिनि तीननिविषै तत्पर—लीन निरंतर होहु ॥ छ ॥

भावार्थः—शुद्ध ध्यानकी सामग्री—महाव्रतका अंगीकार करना, जिनसूत्रका अभ्यास करना; तप करनां इत्यादिक है । ए जाकै होय सो पुरुष ध्यान-रथकूं चलावै । जो संसार-देह-भोग-सम्बन्धी पदार्थनिमैं लीन हूवा प्रवर्त्तै, ताकै शुभ ध्यानका होनां भी कठिन है । सो शुद्ध ध्यान कहांतैं होय ?

बहुरि अवारके कालमैं शुक्लध्यान तौ होय नांही। अर धर्म-ध्यान होय है, सो भी अविरतसम्यग्दृष्टीकै तौ आज्ञामात्र धर्मध्यांन होय है। सो यह तीव्र रागसहित शुभ ध्यांन है।

बहुरि कोई देशव्रती श्रावक होय, ताकै किछू संक्लेशकी हानितैं विशिष्ट शुभ ध्यांन होय है। बहुरि मुनि महाव्रतीका होनां ही अवार कठिन है। जो कोई दूर देशमैं होय, तौ वाकै भी शुभ ध्यानकी ही प्रवृत्ति जांननी। शुद्ध ध्यान तौ श्रेणीके प्रारंभरूप सातमैं गुणस्थान उत्कृष्ट धर्म ध्यान होय है, सो अवार यहु होय नाही।

बहुरि शुभ ध्यानका फल सम्यग्दृष्टीकै उत्तम देव पदई होय, तहांतैं चय विदेहमैं उपजै, ऐसैं परम्परा मोक्ष होय, सो अति-भद्र परिणामीकै होय। वक्र परिणामीकै तौ सम्यग्द्रष्टी होनां ही दुल्लभ है। ऐसैं जांननां। विशेष विस्ताररूप कथन अन्य ग्रन्थ-नितैं जाननां। इहां गाथाका अर्थमात्र संक्षेप व्याख्यान है ॥छ॥ ऐसैं ध्यानका कथन ग्यारह गाथामैं कीया ॥छ॥

आगैं श्रीनेमिचंद्र आचार्य सिद्धान्तचक्रवर्त्ति इस ग्रंथका कर्त्ता अपनां लघुतारूप वचन कहै है।

स्वगताछन्द :

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोस-संचय-चुदा सुद-पुण्णा।
सोधयंतु तणु-सुत्त-धरेण णेमिचंदमुणिणा भणियं जं॥५८॥

अर्थ—जो यहु द्रव्यसंग्रहनामा ग्रन्थ अल्प सूत्रके धारी नेमिचंद्र मुनि करि रच्या है, ताहि बड़े मुनि श्रुत करि पूर्ण—भरे अर दोषनिका संचय करि रहित है, ते सोधियो ॥ छ ॥

भावार्थ—श्रीनेमिचंद्र आचार्य कहै है। जिन-सूत्र तौ

समुद्र है। ताका पार कोंन पावै। मैं अल्पसूत्रका धारी हूँ, सो कारण पाय यह द्रव्यसंग्रह रच्या है। सो बड़े श्रुतके धारक निर्दोष मुनि है। ते यामैं किछू हीनाधिक अक्षर-मात्रा-अर्थ होय तो सोधि लीजियो। यह मेरी परोक्ष प्रार्थना है ॥ छ ॥

अैसैं मोक्ष-मार्गका है प्ररूपण जामैं, अैसा तीसरा अधिकार पूर्ण कीया। अैसै तीन अधिकार स्वरूप जो द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ, सो संपूर्ण भया। याका विशेष व्याख्यान, याकी टीका ब्रह्मदेव आचार्यकृत है, तातै जाननां।

दोहा—पंच परमगुरु वंदि हौ, अंतम-मंगल-हेतु।
सकल पापका नाश करि, अविनाशी सुख देतु ॥१॥

छप्पय— आतमके परिणाम कर्म-संबंध अनेका।
मिथ्या मिटि सम्यक्त थाय जब होय विवेका ॥
चारित तेरह भेद धरै अणगार कहावै।
आचारिज उज्झाय साधु ए पदई पावै ॥
जब शुक्लध्यान केवल थकी केवलज्ञानी जिनवरा।
अरहंत होय रु अधाति हति सिद्ध शुद्ध मंगलकरा ॥२॥
देशवचनिका इम यहै, करी नाम जयचंद।
धर्म-रागतै भव्यकै, वांचैं सुनै अनंद ॥३॥
पण्डितजनसूं वीनती, है परोक्ष मम एह।
हीनाधिक लखि सोधियो, हासियो मति धरि नेह ॥४॥
सवत्सर विक्रमतणूं, अठदश - शत त्रयसाठ।
श्रावण वदि चोदसि दिवस, पूरण भयो सुपाठ ॥५॥

इति श्रीआचार्य नेमिचंद्रकृत प्राकृतगाथा-बंध द्रव्यसंग्रहकी गाथाका संक्षेप अर्थरूप देशभाषामय वचनिका संपूर्ण ॥छ॥



अथ द्रव्यसंग्रह-भाषा

दोहा—देव जिनेश्वर वंदि करि, वाणी सुगुरु मनाय ।
करूँ द्रव्यसंग्रहतणी, भाषा-छंद वणाय ।। १ ।।

चौपाई–जीव अजीव द्रव्य षट भेद, जिनवर वृषभ कहे निरखेद ।
शत इंद्रनि करि वंदित मुदा, मैं वंदौं मस्तकतैं सदा ।।२।।
जीव, मयी उपयोग अमूर्त्त, कर्त्ता देहमान है पूर्त्त ।
भोक्ता संसारी अर सिद्ध, उर्ध्व-गमन नव कथन प्रसिद्ध ।।३।।
तीन कालमैं जीवन जास, इंद्रिय बल आयुष उच्छ्वास ।
च्यारि प्राण व्यवहारैं जीव, निश्चयनय चेतना सदीव ।।४।।
दोय भेद उपयोग उदार, दर्शन ज्ञान धरै सुविचार ।
दर्शन-भेद च्यारि है भला, चक्षु अचक्षु अवधि केवला ।।५।।
ज्ञान-भेद मति श्रुत अवधिका, भले-बुरेतै है छहैतिका ।
मनपर्यय केवल मिलि आठ, है परतक्ष परोक्ष सुपाठ ।।६।।
यह सामान्य जीवका चिह्न, नय व्यवहार बताया गिह्न ।
निश्चय शुद्ध ज्ञान-दर्शना, लिंग यथारथ जिनवर भनां ।।७।।
वर्ण पांच रस पाच जु गंध, दोय फास अठ नांही खंध ।
निश्चय मूरति-विन जिय सार, बंधसहित मूरत विवहार ।।८।।
पूद्गलकर्म करै व्यवहार, कर्ता यातैं कहै करार ।
निश्चय निज रागादिक करै, शुद्धदृष्टि शुद्धभावहि धरै ।।९।।
अणुगुरुदेहमान व्यवहार, सकुचै फैलै जिय निरधार ।
समुद्घात-बिन कहिए एम, निश्चय देश असख्य जु नेम ।।१०।।

सुख-दुखमय फल पुद्गलकर्म, भोगै नय व्यवहार सुमर्म ।
निश्चयनय निज चेतनभाव, जीव भोगवै सदा कहाव ॥११॥
भूमि तेज जल वृक्ष समीर, एकेंद्रिय थावर जु शरीर ।
वे ते चउ पण इंद्रिय जीव, त्रस है संख आदि भवनीव ॥१२॥
मन-बिन अर मन-सहित सुजान, पचेंद्रिय, पर सब मन-हांनि ।
बादर सूक्षम एकहि अक्ष, सब पर्यापत इतर प्रत्यक्ष ॥१३॥
चौदह मारगना गुनथान, नयअशुद्ध संसारी मान ।
निश्चय सर्व जीव है शुद्ध, नांहि भेद चेतन नित बुद्ध ॥१४॥
अष्टकर्म हति अठ गुण पाय, चरमदेहतें किछू उनाय ।
लोक अंत थित सिद्ध कहाय, नित उत्पाद नाश हू भाय॥१५॥
अब अजीवकौ सुनौ विलास, पुद्गल धर्म अधर्म अकास ।
काल, तहां मूरत पुद्गला, रूपादिक युत, शेष न रला ॥१६॥
शब्द बंध सूक्षम अरु थूल, संसथान अरु भेद समूल ।
तम छाया आताप उजास, पुद्गलके पर्याय समास ॥१७॥
जीव रु पुद्गल गमन कराहि, सहकारी, तब गिनिये ताहि ।
धर्म द्रव्य, जिम जल मांछला, बैठेकूं न चलावै बला ॥१८॥
तिष्ठै पुद्गल जीव सु जवै, थिति-सहकारी होय सु तवै ।
छाया जिम पंथीकू जांनि, द्रव्य अधर्म, गमन न विभानि ॥१९॥
जीवादिक सबकूं अवकास, देय द्रव्य सो गिनूं अकास ।
लोक-अलोक दोय विधि अख्या, देव जिनेश्वर जैसैं लख्या ॥२०॥
धर्म अधर्म जीव पुद्गला, कालद्रव्य ए सब ही रला ।
जेतेमैं है, लोकाकास, तातैं परै अलोक अभा (का) स ॥२१॥

द्रव्यनिके परिवर्तनरूप, काल लखो व्यवहार विरूप ।
लख्यो पडै परिणामनि एह, निश्चय वर्तनलक्षण तेह ॥२१॥
लोकाकास-प्रदेशनि मांहि, एक-एक परि जुदे गिणाहि ।
जे असंख्य तिष्ठै थिररूप; कालाणूं, जिम रत्ननि तूप ॥२३॥
ऐसैं द्रव्य कहै छह भेद, जीव-अजीवतणे, विन-खेद ।
काल विना पण अस्ति जु काय, जानूं जिन भाषे समुदाय ॥२४॥
एते 'है' ऐसे जिनदेव, भाषै अस्तिरूप स्वयमेव ।
बहु प्रदेश काय जिम लखै, अस्तिकाय पांचू इम अखै ॥२५॥
देश असंख्य जीव एक कै, धर्म अधर्म तथा गिनि तकै ।
नभ अनंत, पुद्गल बहु भाय, एक कालकै, इम विन-काय ॥२६॥
पुद्गल अणूं एक परदेश, खंध रूक्ष-चीकणतैं वेश ।
बहुदेशी उपचार कहाव, कायरूप इम कह्यौ स्वभाव ॥२७॥
पुद्गल-अणूं जितो आकाश, रोकै सो परदेश विकास ।
सर्व अणूंकूं दे अवगाह, शक्ति ऐसी धारै जु अथाह ॥२८॥
यह तौ भयो प्रथम अधिकार, दूजो सुणूं तत्त्व-विस्तार ।
जीव अजीव रु आस्रव बंध; सवर निर्जर मोक्ष अबंध ॥२९॥
पुन्य पाप ए नव, इन मांहि, आवै कर्म सू आस्रव चाहि ।
भावास्रव आतम-परिणाम, पुद्गल आवै द्रव्य सुनाम ॥३०॥
मिथ्या अविरत औ परमाद, योग कषाय तणूं उन्माद ।
पांच पांच पणदस तिय च्यारि, भावास्रवके भेद कहारि ॥३१॥
ज्ञानावरण आदिके योग्य, पुद्गल आवै जिवकै भोग्य ।
द्रव्यास्रव भाष्यौ बहु भेद, जिणवरदेव, रहित वचखेद ॥३२॥

जिस चेतन-परिणामहु कर्म, बधि है भावबंध सो मर्म ।
आतम-कर्म-देश-परवेश, आपस माहि द्रव्य यह देश ।।३३।।
प्रकृति प्रदेश रु थिति अनुभाग, च्यारि भेद है बंध-विभाग ।
योग करै परकति-परदेश, थिति-अनुभाग कषाय-असेस ।।३४।।
आस्रवके रोकणकू भाव, आतमकौ, सो संवर भाव ।
पुद्गलकर्म रुकै सो जानि, संवर द्रव्य, नाम सो मानि ।।३५।।
व्रत अरु समिति गुप्ति दश धर्म, अनुप्रेक्षा चारित्र जु पर्म ।
सहन परीसह, ए बहु भेद, संवर भाव, भनैं जिनदेव ।।३६।।
जथाकाल अर तप-परभाव, कर्म निर्जरै रस दे जाय ।
जिनि भावनितैं होय, सु भाव, कर्म झडै, इम दोय गिनाव ।।३७।।
सर्व कर्मका क्षयकर भाव, चेतनकै ह्वै मोक्ष सु भाव ।
कर्म-जीव न्यारे जो होय, द्रव्य-विमोक्ष कहावै सोय ।।३८।।
शुभ अर अशुभ भाव जुत जीव, भाव पुण्य अरु पाप सदीव ।
साता शुभ गोत्तर अरु नाम, आयु पुण्य, पर पाप निकाम।३९।।
अब सुनि दर्शन ज्ञान सुसार, चारित, शिव-कारन व्यवहार ।
निश्चय एक आतमा जानि, तीनांमयी मोक्षमग मानि ।।४०।।
दर्शन बोध चारित्र जु तीन, आतम-विन परमैं न प्रवीन ।
तातैं तीनामयी सु आप, कारन मोक्ष कह्यौ विन पाप ।।४१।।
जीवादिक तत्त्वनिकी करै, श्रद्धा सो सम्यक्त हूँ वरै ।
याहीतैं सम्यक् ह्वै ज्ञान, दुरआशय-विन आतम मान ।।४२।।
सासय विमोह विभ्रम दूरि, आपा-परकूं गहै जरूरि ।
सो है सम्यक्ज्ञान, अनेक, भेद लीये साकार अटेक ।।४३।।

दर्शन अवलोकन, सो जुदा, गहै वस्तु सामान्यहि तदा।
विन आकार विशेषनि हीन, जिनमत भाषैयों परवीन ॥४४॥
छदमस्थांकै क्रमतैं जान, पहलैं दर्शन पीछैं ज्ञान।
दो उपयोग न एकैं काल, केवलज्ञानी युगपत भाल ॥४५॥
शुभकूं गहै अशुभतैं दूरि, चारित सो व्यवहारै पूरि।
व्रत अरु समिति गुप्ति जामाहि, मुनि धारै अति यतन कराहि॥४६
बाह्याभ्यन्तर किरिया रोकि, आतम शुद्ध गहै अवलोकि।
आस्रव बध अभाव निमित्त, ज्ञानी धरैं परम चारित्त ॥४७॥
इम दो विधि चारित मुनिराज, ध्यान-योग पावै सु समाज।
जातैं यत्न धारि यह धरो, नियम रूप भाषै मुनिवरो ॥४८॥
इष्ट-अनिष्ट वस्तु कूं देखि, राग-द्वेष अरु मोह न पेखि।
जो चितकूं थिर करनां होय, ऐसैं किये ध्यान सिधि होय ॥४६॥
परमेष्ठी-वाचक पैंतीस, वर्ण सोल छह पण चतु ईश।
दोय एक पुनि ध्यावो जपो, और वताये गुरुके लपो ॥५०॥
च्यारि घातिया कर्म नशाय, दर्शन ज्ञान सुख वीरजि पाय।
परम-देहमैं तिष्ठै संत, सो आतम चितवो अरहंत ॥५१॥
आठ करम अर देह नशाय, लोकालोक देखि जो ज्ञाय।
पुरुषाकार आतमा सिद्ध, ध्यावो लोक-शिखर-थित इद्ध ॥५२॥
दर्शन ज्ञान समग्र उदार, चारित तप वीरज आचार।
आप आचरै पर अचराय, ऐसैं आचारिज मुनि ध्याय ॥५३॥
रत्नत्रय जो धारै सार, सदा धर्म-उपदेश करार।
यतिवरमैं परधान मुनीश, उपाध्यायकूं नावौ शीश ॥५४॥

जो साधै शिव-मारग सदा, दर्शन-ज्ञान-चरनसंपदा ।
शुद्ध साधु मुनि सो जग दिपै, तास ध्यानतैं पाप न लिपै ॥५५॥
यत्किञ्चित् चितवन जामाहि, इच्छा-रहित होय जब ताहि ।
एक चित्त ह्वै मुनि एकलो, निश्चय ध्यान कहै जिन भलो ॥५६॥
मन-वच-काय-चेसटा तजो, जिम थिर चित्त होय निज भजो ।
आपा माहि आप रत सोय, परमध्यान इम करतैं होय ॥५७॥
तप धारै अर आगम पढै, व्रत पालै आतम इम बढै ।
ध्यान-धुरंधर ह्वै सिधि करै, तीनूं धरि शिव-रमणी वरै ॥५८॥
नेमिचंद्र मुनि तनु श्रुत लियो, ग्रंथ द्रव्यसग्रह मैं कियौ ।
जे महान् मुनि बहु-श्रुत-धार, दोष-रहित ते सोधहु तार ॥५९॥
दोहा —इम लघुता अपनी करी, नेमिचद मुनिराज ।
भाषा करि जयचद अव, कहा कहै वहुलाज ॥६०॥
मंगल श्रीअरहत वर, मंगल सिद्ध सुसूरि ।
उपाध्याय साधू सदा, करो पाप सब दूरि[1] ॥६१॥
इति श्रीद्रव्यसंग्रह-भाषा संपूर्ण ॥श्री॥ सवत् १८७६ माघ कृष्ण ११ भौमवासरे लिखितं मिश्र सुखलाल बडोत मध्ये ॥
श्री शुभ मगलं ददातु ॥ श्री श्री



१ ब्यावर प्रतिमें अन्तिम पुष्पिका-वाक्य इस प्रकार है—
'इति श्रीद्रव्यसग्रह नेमिचद्र आचार्य ता प्रमाण जयचंदजी छावडा कृत वचनिका वा भाषा संपूर्ण ॥छ॥ समाप्तं ॥ —सम्पा०।

परिशिष्ट 1

द्रव्यसंग्रहकी

संक्षिप्त संस्कृत व हिन्दी व्याख्या

प्रथम अधिकार

सं० व्या०—अत्र द्रव्यसंग्रहे ग्रन्थकृता संक्षेपेण जैनतत्त्व-निरूपणं कृतम्। इह हि त्रयोऽधिकाराः सन्ति। तत्र 'षड्द्रव्य-पञ्चास्तिकायप्रतिपादक' नाम्नि प्रथमाधिकारे 'जीवमजीवं दव्वं' इत्यत आरभ्य 'जावदियं आयासं' इति पर्यन्तं सप्तविंशतिगाथाभिर्जीवाजीवप्रभेदात् मूलद्रव्यस्य द्वैविध्यं निर्दिश्य तदनन्तरं जीवद्रव्यस्य पुद्गलधर्माधर्माकाशकालानां पञ्चाजीवद्रव्याणां कालविमुक्तजीवादिपञ्चास्तिकायानां च प्रतिपादनमस्ति। ततः परं द्वितीये सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकाख्येऽधिकारे 'आसवबंधण-संवर' इत्यत प्रारभ्य 'सुह-असुह-भाव' इति गाथापर्यन्तमेकादशगाथासु सप्ततत्त्वानां जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाख्यानां पुण्यपापसहितानां तेषामेव नवपदार्थाभिधानानां च वर्णनं वर्तते। तत. परं तृतीये 'मोक्षमार्गप्रतिपादक' नाम्नि पश्चिमेऽधिकारे 'सम्मद्दंसण' इति गाथात· समारभ्य 'तव-सुद-वदव' इति गाथापर्यन्तमेकोनविंशतिगाथाभिर्मोक्षमार्गस्य निश्चयव्यवहारप्रभेदस्य रत्नत्रयस्वरूपस्य तत्साधनीभूतस्य ध्यानस्य ध्यानविषयाणां पञ्चपरमेष्ठिनामर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधूनां च सक्षेपतः प्ररूपणं विहितम्। ग्रन्थान्ते गाथायामेकस्यां ग्रन्थकर्ता श्रीनेमिचन्द्रः स्वलाघमनौद्धत्यं च प्रकाशितवानिति ग्रन्थस्य सारांशः।

तत्र ग्रन्थकारो ग्रन्थादौ मङ्गलार्थतया प्रथमतीर्थंकरश्रीजिनवर-ऋषभदेवं वन्दमानस्तदुपदिष्टस्य द्रव्यद्वयस्य जीवस्याजीवस्योल्लेखं विदधाति 'जीवमजीवं' इत्यादिना—

जीवमजीवं द्रव्यं जिनवरवृषभेण येन निर्दिष्टम् ।
देवेन्द्रवृन्दवन्द्यं वन्दे तं सर्वदा शिरसा ॥१॥

येन प्रथमतीर्थंकृता श्रीऋषभजिनेन्द्रेण जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं चेति द्विविधं द्रव्यं निर्दिष्टम्, यश्च देवेन्द्रवृन्दैर्वन्दनीयस्तमहं नित्यं शिरसा वन्दे प्रणमामीत्यर्थः ॥१॥

सं० व्या०—जीवद्रव्य तावन्निरूपयति—'जीवो उवओगमओ' इत्यादि—

जीवः उपयोगमयः अमूर्तिः कर्त्ता स्वदेहपरिमाणः ।
भोक्ता संसारस्थः सिद्धः सः विस्रसा ऊर्ध्वगतिः ॥२॥

व्यवहारनयापेक्षया द्रव्यभावप्राणैर्जीवति, निश्चयनयापेक्षया तु चैतन्यलक्षणेन प्राणेन जीवतीति जीवः। चेतनावानिति भावः। उपयोगमयः उपयोगस्वभावः। अमूर्तिः वर्णादिहीन.। कर्त्ता व्यवहारनयापेक्षया पुद्गलकर्मादीनां कर्त्ता, निश्चयनयापेक्षया तु शुद्धज्ञान-दर्शनादिभावानां कर्त्ता। स्वदेहपरिमाणः नाणुपरिमाणः, न चापि

हि० रू०—जिन श्रीऋषभदेव जिनेन्द्रने जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य इन दो मूल द्रव्योंका निर्देश किया तथा जो एक-दो नहीं, अपितु इन्द्र-समूहद्वारा वन्दनीय है, मैं ग्रन्थकार (नेमिचन्द्र) भी उन्हें मस्तक झुकाकर सदा वन्दना करता हूँ ॥१॥

हि०रू०—उल्लीखित दो द्रव्योंमें प्रथम जीव द्रव्य जीव है—चेतनावान् है, उपयोगस्वरूप है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, स्वदेह-

व्यापकः, स्वदेह एव तद्गुणानामुपलब्धेः । व्यवहारापेक्षया पुण्यपापादि-पुद्गलकर्मजनितसुखदुःखादीनां भोक्ता, परमार्थतस्तु स्वीयशुद्धज्ञान-दर्शनादिभावनामेव भोक्ता । संसारस्थः जन्मजरामरणाकीर्णे संसारे परिभ्रमणशीलः । सिद्धः कर्मविनिर्मुक्तस्वभावः । विस्रसा स्वभावेन ऊर्ध्वगतिः ऊर्ध्वगमनः । इत्येभिर्नवभिः प्रकारैर्जीवद्रव्यस्य व्याख्यानं विधीयते ॥२॥

सं० व्या०—तत्र को जीव इत्यत्राह—'तिक्काले चदुपाणा' इत्यादि—

त्रिकाले चतुःप्राणाः इन्द्रियं बलं आयुः आनपानश्च ।
व्यवहारात् स जीवः निश्चयनयतः तु चेतना यस्य ॥३॥

व्यवहारनयापेक्षया यस्य कालत्रये भूतभविष्यद्वर्तमानकालेषु इन्द्रिय-बल-आयु-श्वासोच्छ्वाससंज्ञकाश्चत्वारः प्राणाः सन्ति स जीवः ।

परिमित है—न अणु है और न व्यापक है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करनेवाला है । इन नौ प्रकारोंसे जीवद्रव्यका व्याख्यान किया जाता है ॥२॥

हि० रू०—जिसके तीनों कालों (भूत, भविष्यत् और वर्त-मान) में इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं वह व्यवहारतः जीव है । वास्तवमें जिसके ज्ञान और दर्शनरूप चेतना है वह जीव है ।

प्रत्येक वस्तुके दो रूप होते हैं—एक असली और दूसरा नकली । जिसमें परनिमित्तकी अपेक्षा नहीं है, मात्र स्वापेक्ष है वह असली रूप है । उसीको परमार्थ, भूतार्थ वास्तविक और नैश्चयिक भी कहते हैं । परन्तु जिसमें परनिमित्तकी अपेक्षा है अर्थात् परनिमित्तसे व्यवहृत होता है वह नकली रूप है उसीको अपरमार्थ,अभूतार्थ और व्यवहार भी कहा गया है ।

यो हि चतुर्भिः प्राणैरिन्द्रियादिभिरजीवत् जीवति जीविष्यति स जीवः। परमार्थतस्तु यस्य ज्ञानदर्शनस्वरूपा चेतना स जीव इति भावः ॥३॥

जीवस्य सिद्धिः कथमिति चेत्, उच्यते;—जीवोऽस्ति, सद्य-प्रसूतशिशो स्तनादावभिलाषात्। अभिलाषो हि प्रत्यभिज्ञाने भवति, तच्च स्मरणे, स्मरण चानुभवे भवतीति पूर्वानुभवः सिद्धः। मध्यदशायां

जीवमें चेतना परनिमित्तापेक्ष नहीं है, वह उसका स्वाभाविक स्वरूप है। अतः वह जीवका परमार्थ प्राण है और वह सभी कालों (भूत, भविष्यत् और वर्तमान) में पायी जाती है। किन्तु इन्द्रियादि चार प्राण पुद्गलकर्मके निमित्तसे होते हैं, पर वे जीवमें ही होते हैं। अतः वे जीवके व्यवहारसे प्राण कहे जाते है। इस तरह जीवका स्वरूप दो तरहसे समझा व समझाया जाता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि इन्द्रियोंकी अपेक्षा जीव पाँच प्रकारके हैं। वे हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। जिनके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय पायी जाती है वे एकेन्द्रिय जीव हैं, जिनके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती है वे दो इन्द्रिय जीव है, जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती है वे तीन-इन्द्रिय जीव हैं, जिनके स्पर्शन, रसना घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ पायी जाती हैं वे चौ इन्द्रिय जीव है तथा जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों इन्द्रियाँ पायी जाये वे पाँच इन्द्रिय जीव हैं। पाँच इन्द्रियवाले जीव भी दो तरहके होते हैं। एक वे, जिनके मन होता है और एक वे, जिनके मन नहीं होता।

गाथामें यद्यपि सामान्यसे इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासो-च्छ्वास इन चार प्राणोंका उल्लेख हुआ है फिर भी यहाँ 'इन्द्रिय'

तथैवोपलब्धे.। किञ्च, अस्ति जीव., मृतानां रक्षोयक्षादिकुलेषु स्वयमुत्पन्नत्वेन कथयतां दर्शनात्। अपि च, अस्ति जीवः, केषाञ्चिद् भवस्मृतेरुपलम्भात्। अन्यच्च, पृथिव्यादिभूतेषु चैतन्यस्य पृथिव्यादिभूतानां च चेतनेऽन्वयाभावादस्ति जीवः स्वतन्त्रः पृथक्भूतः पदार्थ इति, ततः सिद्ध एवानादिरनन्तश्च जीव इति। तदुक्तम्—

तदर्हजस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः।
भूतानन्वयनात्सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः॥ [ ]

सं० व्या०—सम्प्रति गाथात्रयेण 'उपयोगमयः' इत्यस्य व्याख्यानं क्रियते—

उपयोगः द्विविकल्पः दर्शनं ज्ञानं च दर्शनं चतुर्धा।
चक्षुः अचक्षुः अवधिः दर्शनं अथ केवलं ज्ञेयम्॥४॥

से पाँचों स्पर्शनादि इन्द्रियाँ और 'बल'से कायबल, वचनबल, और मनोबल ये तीन बल ग्राह्य है और इस तरह ५+३ + १ + १ = १० प्राण है।

उपर्युक्त पाँच प्रकारके जीवोमें एकेन्द्रिय जीवके स्पर्शन-इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते है। दोइन्द्रिय जीवके उक्त चार प्राण तथा रसना इन्द्रिय और वचनबल ये दो प्राण कुल छह प्राण होते है। तीनइन्द्रिय जीवके घ्राण इन्द्रिय सहित उक्त छह अर्थात् सात, चौइन्द्रिय जीवके चक्षुः इन्द्रिय सहित उक्त सात अर्थात् आठ और पाँच इन्द्रिय जीवके श्रोत्र सहित उक्त आठ अर्थात् नौ प्राण होते है। ये नौ प्राण उस पंचेन्द्रिय जीवके होते है जिसके मन नहीं होता। पर जिन पंचेन्द्रिय जीवों (मनुष्य, देव, नारकी और अश्वादि तिर्यंचों) के मन होता है उनके मनोबल सहित उक्त नौ प्राण अर्थात् दश प्राण होते है॥३॥

उपयोगश्चेतनापरपर्यायो द्विविधः—दर्शनं ज्ञानं च। तत्र दर्शनोपयोगश्चतुर्विधः—चक्षुर्दर्शनम्, अचक्षुर्दर्शनम्, अवधिदर्शनम्, केवलदर्शनं चेति ज्ञेयम्। चक्षुरिन्द्रियेण जायमानं सामान्यावलोकनं चक्षुर्दर्शनम्। तन्निन्नस्पर्शनादिभिश्चतुर्भिरिन्द्रियैर्मनसा च समुत्पद्यमानं सामान्यग्रहणमचक्षुर्दर्शनम्। इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं रूपिद्रव्यमात्रस्य सामान्यग्रहणमवधिदर्शनम्। इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमात्ममात्रापेक्षं केवलज्ञानेन सहैव जायमानं युगपत् सकलचराचरवस्तुसामान्यग्रहणं केवलदर्शनमिति दर्शनोपयोगश्चतुर्विधो विज्ञेय इति।

सं० व्या०—साम्प्रतमष्टविकल्पं ज्ञानोपयोगं प्रतिपादयति—

ज्ञानं अष्टविकल्पं मतिश्रुतावधयः अज्ञान-ज्ञानानि।
मनःपर्ययः केवलं अपि प्रत्यक्ष-परोक्षभेदं च ॥५॥

हि० रू०—ज्ञान और दर्शनरूप चेतनाको उपयोग कहते हैं। यह दोप्रकारका है—एक दर्शनोपयोग और दूसरा ज्ञानोपयोग। दर्शनोपयोगके चार भेद हैं—१. चक्षुर्दर्शन, २. अचक्षुर्दर्शन, ३. अवधिदर्शन और ४. केवलदर्शन। चक्षुइन्द्रियके द्वारा जो वस्तुका सामान्य-अवलोकन होता है वह चक्षुर्दर्शन-उपयोग है। चक्षुइन्द्रियके सिवाय स्पर्शन आदि चार इन्द्रियों तथा मनसे जो वस्तुका सामान्य ग्रहण होता है वह अचक्षुर्दर्शन है। इन्द्रियों और मनकी अपेक्षाके बिना ही आत्मामात्रकी अपेक्षा लेकर जो सिर्फ रूपी पदार्थ (पुद्गल व पुद्गल-सम्बद्ध जीव) का सामान्य-ग्रहण होता है वह अवधिदर्शन है। तथा इन्द्रियों और मनकी अपेक्षा लिए बिना केवल आत्मामात्रकी अपेक्षासे जो केवलज्ञानके साथ ही युगपत् समस्त चर-अचर पदार्थोंका सामान्यग्रहण है वह केवलदर्शन-उपयोग है ॥४॥

द्वितीयस्य ज्ञानोपयोगस्याष्टौ भेदाः सन्ति । तद्यथा—मति-अज्ञानम्, श्रुत-अज्ञानम्, अवधि-अज्ञानम्, मतिज्ञानम्, श्रुतज्ञानम्, अवधिज्ञानम् । मत्यादीनि त्रीणि ज्ञानानि सम्यग्ज्ञानरूपाणि मिथ्याज्ञानरूपाणि च भवन्ति । सम्यक्दर्शनेन सह सम्यग्ज्ञानानि मिथ्यादर्शनेन च सह मिथ्याज्ञानानीति व्यपदिश्यन्ते । इत्थं चेमे षड्भेदाः । मनःपर्यय-ज्ञानं केवलज्ञानं चेति ज्ञानद्वयं सम्यग्दृष्टेरेव भवति । ततो नेदं ज्ञानद्वयं सम्यक्-मिथ्यारूपमिति । एवं च मिलित्वा ज्ञानोपयोगस्य अष्टौ भेदाः ज्ञेयाः ।

इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं ज्ञानं मतिज्ञानम् । तच्च यथार्थमयथार्थं च भवति । मतिपूर्वं श्रुतम् । तदपि यथार्थमयथार्थं च । इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं रूपिद्रव्यमात्रविषयं विशेषग्रहणमवधिज्ञानम् । एतदपि यथार्थमयथार्थं च । इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वे सति परमनोगतार्थविषयं

हि० रू०—ज्ञानोपयोगके आठ भेद हैं। मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान सम्यक्रूप (यथार्थ) और मिथ्यारूप (अयथार्थ) दोनों प्रकारके होते हैं। जब ये सम्यग्दृष्टि (यथार्थ ज्ञाता) के होते है तब वे सम्यग्ज्ञान हैं और जब वे मिथ्यादृष्टि (अयथार्थ ज्ञाता) के होते है तब वे अज्ञान—मिथ्याज्ञान कहे जाते है। वास्तवमें इनके ज्ञानत्व और अज्ञानत्वका बीज क्रमशः आगमिक सम्यक्दर्शन और उसका अभाव है, दार्शनिक अर्थाव्यभिचारित्व और उसका अभाव नहीं है। इसका कारण इतना ही है कि यहाँ दार्शनिक विवेचन विवक्षित नहीं है। केवल आगमिक विवेचन ही विवक्षित है। यही कारण है कि अगले दोनों ज्ञान—मनःपर्यय और केवल सम्यग्ज्ञानरूप ही है, मिथ्यारूप नहीं हैं, क्योंकि वे सम्यग्दृष्टिके ही होते हैं, मिथ्यादृष्टिके नहीं।

विशेषग्रहणं मनःपर्ययज्ञानम् । सकलद्रव्यपर्यायविषयं केवलज्ञानम् । आद्यानां मत्यादित्रयाणां याथार्थ्यायाथार्थ्ययोर्बीजं सम्यग्दर्शनं तदभावश्चेति बोध्यम् । तदेतज्ज्ञानं प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद् द्विविधमप्युक्त-मभियुक्तैः । तदाह—'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्' (त० सू० १-९), 'तत्प्रमाणे' (त० सू० १-१०), 'आद्ये परोक्षम्' (त० सू० १-११), 'प्रत्यक्षमन्यत्' (त० सू० १-१२) इति ॥५॥

सं० व्या०—उपयोगो लक्षणमिति नयद्वयेन प्रदर्शयति—

अष्टचतुर्ज्ञानदर्शने सामान्यं जीवलक्षणं भणितम् ।
व्यवहारात्, शुद्धनयात् शुद्धं पुनः दर्शनं ज्ञानम् ॥६॥

अष्टविधं ज्ञानं चतुर्विधं च दर्शनं मिलित्वा उपयोगः द्वादश जीवस्य सामान्यं लक्षणं भणितम् । सामान्यमिति कोऽर्थः ? संसारिजीव-मुक्त-

---

यहाँ इतना और ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त आठों ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदोंमें भी विभक्त है। मतिज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुतज्ञान और श्रुत-अज्ञान ये चार परोक्ष है, क्योंकि उनमें इन्द्रि-यादिकी अपेक्षा होती है। पर अवधिज्ञान, अवधि-अज्ञान, मनः-पर्यय और केवल ये चार प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि ये चारो ही इन्द्रि-यादिनिरपेक्ष तथा विशद होते है । इतना विशेष है कि अवधि-अज्ञानको विभङ्गावधि भी कहा जाता है और वह उसी प्रकार प्रत्यक्षाभासकी कोटिमें है जिस प्रकार मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान परोक्षाभास है ॥५॥

हि० रू०—आठ प्रकारका ज्ञान और चार प्रकारका दर्शन यह बारह प्रकारका उपयोग जीवका सामान्य लक्षण है । अर्थात् संसारी या मुक्त जीवकी विवक्षा न करके वह मात्र सामान्य-तया जीवका लक्षण कहा गया है। सो वह व्यवहारसे

जीवभेदविवक्षा नास्ति शुद्धाशुद्धज्ञानदर्शनविवक्षा वा नास्ति। इदं च लक्षणं व्यवहारादुक्तम्। शुद्धनिश्चयनयात्पुनः शुद्धमखण्डं केवलज्ञान-दर्शनद्वयं जीवलक्षणमिति।

अत्रेदं बोध्यम्—नैयायिकादयः प्रवादिनो जीवादुपयोगः सर्वथा भिन्नोऽभिन्नः स्वतन्त्रोभयं वा इति मन्यन्ते, तन्निरासार्थं जीवस्योपयोग-मयत्वं प्रतिपादितम्, उपयोगमयः उपयोगस्वभाव इत्यर्थः ॥६॥

सं० व्या०—अथ 'अमूर्त्तिः' इत्यस्य व्याख्यानं करोति—

वर्णाः रसाः पञ्च, गन्धौ द्वौ, स्पर्शाः अष्टौ, निश्चयात् जीवे।
नो सन्ति अमूर्त्तिः ततः, व्यवहारात् मूर्त्तिः, बन्धतः ॥७॥

निश्चयनयापेक्षया जीवे पञ्च वर्णाः, पञ्च रसाः, द्वौ गन्धौ, अष्टौ

है। परमार्थतः तो जीवका लक्षण शुद्ध ज्ञान (केवल ज्ञान) और शुद्ध दर्शन (केवल दर्शन) ही है। तात्पर्य यह कि केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग क्षायिक होनेसे अनौपाधिक हैं और चैतन्यरूपसे अनादि अनन्त है। परन्तु मत्यादि दश उपयोग क्षायोपशमिक होनेसे औपाधिक (कर्म-निमित्तक) है और सादि सान्त हैं। अतः उपयोगको दो नयों-की विवक्षासे जीवका लक्षण कहा गया है। दश प्रकारका उपयोग संसारी जीवो तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो प्रकारका उपयोग मुक्त जीवोंका लक्षण है। और मात्र उपयोग अर्थात् चैतन्य सभी जीवोंका सामान्य लक्षण है ॥६॥

हि० रू०—वस्तुतः शुद्धस्वरूपकी दृष्टिसे जीवमें पांच रूप, पांच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श इन बीस पुद्गलके गुणोंमें से एक भी गुण नहीं है। इसलिए वह अमूर्त्तिक है। किन्तु अनादि कर्मबन्ध होनेके कारण वह व्यवहारसे मूर्त्तिक है।

परमार्थसे जब विचार किया जाता है तो एकद्रव्यके गुण-

स्पर्शाश्च न सन्ति । ततः कारणात् अमूर्त्तः । यद्यमूर्त्तस्तर्हि कथं कर्म-बन्ध इति चेत्, व्यवहारात, मूर्त्तियतः । मूर्त्तिश्चाप्यनादिकर्मबन्ध-सद्भावात् । तदुक्तम्—'बंधं पडि एयत्त' इत्यादि ॥७॥

सं० व्या०—अथ जीवस्य कर्तृत्वं निरूपयति—

पुद्गलकर्मादीनां कर्त्ता व्यवहारतः तु निश्चयतः।
चेतनकर्मणा आत्मा शुद्धनयात् शुद्धभावानाम् ॥८॥

आत्मा व्यवहारतः पुद्गलकर्मादीनां ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणाम्, आदिशब्देनौदारिकवैक्रियकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्पर्याप्तियोग्यपुद्गल-

---

धर्म दूसरे द्रव्यमें कदापि सम्भव नहीं हैं। ऐसी स्थितिमें जो रूपादि पुद्गलके गुण है और जिनके कारण उसे मूर्त्तिक कहा जाता है वे रूपादि जीवमें सम्भव नहीं है और इस लिए वह अमूर्त्तिक है। पर संसार-अवस्थामे कोई भी जीव पुद्गलकर्म-के सम्बन्धसे रहित नहीं है, अतः पुद्गलके रूपादि गुणोंका उसी प्रकार जीवमे सद्भाव है जिस प्रकार जपाकुसुमके सम्बन्धसे स्फटिक मणिमें रक्तिमा है और इस दृष्टिसे जीव मूर्त्तिक भी है। ध्यान रहे कि जीव अनादि कालसे कर्मबन्धनसे युक्त है और इस लिए जीव तथा पुद्गलकर्ममें एकत्व है। पर यह एकत्व सश्लेषात्मक होते हुए भी नीर-क्षीरके एकत्व जैसा ही है। अतएव जीवके अमूर्तिक और मूर्तिकका विचार निश्चय तथा व्यवहार दोनों नयोंसे किया जाता है ॥७॥

हि० रू०—व्यवहारनयसे आत्मा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों तथा गाथोक्त आदि शब्दसे औदारिकादि तीन शरीरों और आहारादि छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलरूप नोकर्मों और बाह्य घटपटादिका कर्त्ता है। परन्तु अशुद्धनिश्चयनयसे वह रागादि

पिण्डरूपनोकर्मणां बहिर्विषय-घटपटादीनां च कर्त्ता भवति। निश्चय-नयात् अशुद्धनिश्चयनयात् चेतनकर्मणां रागादिभावकर्मणां कर्त्ता भवति। शुद्धनिश्चयनयात् तु शुद्धभावानां क्षायिकानन्तसुखज्ञानदर्शनादीनां कर्त्ता इति ॥८॥

सं० व्या०—इदानी जीवस्य भोक्तृत्वं कथयति—

व्यवहारात् सुखदुःखं पुद्गलकर्मफलं प्रभुंक्ते।
आत्मा निश्चयनयतः चेतनभावं खलु आत्मनः ॥९॥

आत्मा व्यवहारनयात् पुद्गलकर्मोदयात्समुद्भवं सुखदुःखरूपं फलं भुंक्ते। निश्चयनयात्खलु स्वस्य ज्ञानानन्दादिस्वभावं चेतनभावं भुंक्ते इति ॥९॥

सं० व्या०—जीवस्य स्वदेहपरिमाणत्वं प्रतिपादयति—

अणुगुरुदेहप्रमाणः उपसंहारप्रसर्प्पतः चेतयिता।
असमुद्घातात् व्यवहारात् निश्चयनयतः असंख्यदेशो वा॥१०॥

भावकर्मोंका तथा शुद्धनिश्चयनयसे क्षायिक अनन्तज्ञान-सुखादि शुद्धभावोंका कर्त्ता है। हम ऊपर कह आये है कि प्रत्येक वस्तुके स्वरूपका विचार दो नयोंसे किया जाता है। प्रस्तुत गाथामें जीवके कर्तृत्वका भी विचार व्यवहार और निश्चय दोनों नयों-से किया गया है।

हि० रू०—व्यवहारनयसे आत्मा साता-असाता आदि पुद्गलकर्मजन्य सुखदुःखका भोक्ता है और निश्चयनयसे वह अपने ही ज्ञानानन्दादि स्वभावका असन्दिग्ध भोक्ता है ॥९॥

हि० रू०—जीव व्यवहारनयसे संकोच और विस्तारधर्मों-के, जो शरीरनामकर्मजन्य है, कारण समुद्घातरहित अवस्थामें अपने छोटे या बड़े शरीरके बराबर है, न अणु है और न व्या-

जीवः व्यवहारनयात् शरीरनामकर्मजनितविस्तारसंकोचधर्माभ्यां समुद्घातरहितावस्थायां स्वीयाणु-गुरुदेहप्रमितः, निश्चयनयादसंख्य-प्रदेशमात्र इति ॥१०॥

सं० व्या०—अतः परं गाथात्रयेण ससारित्वं जीवस्वरूपं निरूपयति—

पृथिवीजलतेजोवायुवनस्पतयः विविधस्थावरैकेन्द्रियाः ।
द्विकत्रिकचतुःपञ्चाक्षाः त्रसजीवाः भवन्ति शङ्खादयः ॥११॥

संसारस्थाः संसारिणो जीवा द्विविधाः स्थावराः त्रसाश्च । तत्र स्थावराः पञ्चविधाः—पृथिवी-जल-तेजो-वायु-वनस्पतिभेदात् । पृथिव्यादयोऽपि प्रत्येकं चातुर्विध्यमुपयान्ति—पृथिवी, पृथिवीजीवः, पृथिवीकायः, पृथिवीकायिकश्चेति । एवमेव जलादयोऽपि चतुर्विधाः विज्ञेयाः । इमे स्थावरनामकर्मोदयेन स्थावरा एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयेन स्पर्शनेन्द्रिययुक्ता एकेन्द्रियाः भवन्ति । द्वित्रिचतुःपञ्चाक्षास्त्रसनामकर्मोदयेन

पक, क्योंकि शरीरमे ही और शरीरमें भी सर्वत्र सुखदुःखादि आत्मगुणोंकी उपलब्धि होती है, न उसके एक देशमें होती है और न उसके बाहर ही होती है । समुद्घात एक विशेष काल अथवा अवस्थाकी क्रियाविशेष है, जिसमें आत्माका अस्तित्व शरीरसे बाहर भी उपलब्ध होता है और आत्मा अपना विशेष प्रयोजन साधता है । पर वह सभी जीवोंके नहीं होता और न सदा होता है । अतः गाथामे 'समुद्घात अवस्थाको छोड़कर' ऐसा कहकर जीवके स्वदेहपरिमाणत्वका प्रतिपादन किया गया है । निश्चयनयसे प्रत्येक जीव असख्यातप्रदेशी है ॥१०॥

हि० रू०—संसारमे परिभ्रमण करनेके कारण जीव संसारी है । संसारी जीव दो प्रकारके हैं—एक स्थावर और दूसरे त्रस । पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पांच तरहके

त्रसजीवा भवन्ति। ते च शङ्खादयः, स्पर्शनरसनेन्द्रिययुक्ताः शङ्खशुक्तिकृम्यादयो द्वीन्द्रियाः, स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रिययुक्ताः कुन्थुपिपीलिकायूकामत्कुणादयस्त्रीन्द्रियाः, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरिन्द्रिययुक्ता दंशमशकमक्षिकाभ्रमरादयश्चतुरिन्द्रियाः, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रिययुक्ता मनुष्यादयः पञ्चेन्द्रियाः, इमे सर्वे त्रसा इति ॥११॥

सं० व्या०—प्रकारान्तरेण संसारिजीवस्वरूपं प्रदर्शयति—

समनस्काः अमनस्काः ज्ञेयाः पंचेन्द्रियाः निर्मनस्काः परे सर्वे ।
बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियाः सर्वे पर्याप्ताः इतरे च ॥१२॥

पंचेन्द्रिया जीवा द्विविधाः समनस्का अमनस्काश्च। मनसा सह वर्तन्ते समनस्काः संज्ञिनः। मनसा वियुक्ता ये ते अमनस्का असंज्ञिनः। एकेन्द्रियादयः सर्वे अमनस्का एव। तत्रैकेन्द्रिया अपि द्विविधाः—बादरसूक्ष्मभेदात्। इमे च सर्वे (समनस्कपचेन्द्रियाः, अमनस्कपंचे-

---

जीव स्थावर जीव हैं, क्योंकि स्थावरनामकर्मके उदयसे उनकी उत्पत्ति होती है। पृथिवी आदि जीव हैं, यह इसीसे ज्ञात होता है कि उनमें अङ्कुरोत्पादन आदिकी क्षमता विद्यमान है। विज्ञानने भी इनमें जीव माना है। त्रसजीव भी चार तरहके हैं—१. द्वीन्द्रिय—शंख आदि, २. त्रीन्द्रिय—चिंवटी आदि, ३. चतुरिन्द्रिय—मक्खी, भ्रमर आदि और ४. पञ्चेन्द्रिय—मनुष्यादि ॥११॥

हि० रू०—पंचेन्द्रिय जीव दो तरहके है। एक वे है, जिनके मन पाया जाता है और जिन्हें समनस्क या संज्ञी कहा जाता है। और दूसरे वे है जिनके मन नहीं होता और जिन्हें अमनस्क अथवा असंज्ञी कहते हैं। पंचेन्द्रियोंके सिवाय शेष सभी जीव अमनस्क ही होते हैं। एकेन्द्रिय जीव भी बादर और सूक्ष्मके

न्द्रिया, बादरैकेन्द्रियाः, सूक्ष्मैकेन्द्रियाः, द्वीन्द्रियाः, त्रीन्द्रिया, चतुरिन्द्रिया) मिलित्वा सप्त पर्याप्ता सप्तापर्याप्ताश्च भवन्ति। एवं च चतुर्दशप्रकाराः संसारिणो ज्ञेयाः। एत एव जीवसमासा इत्याहुः। जीवानां स्थानविशेषा इत्यर्थः॥१२॥

सं० व्या०—अन्यथापि संसारिजीवस्वरूपं कथयति—

मार्गणागुणस्थानैः चतुर्दशभिः भवन्ति तथा अशुद्धनयात्।
विज्ञेयाः संसारिणः सर्वे शुद्धाः खलु शुद्धनयात्॥१३॥

संसारिण: यथा पूर्वगाथोदितचतुर्दशजीवसमासैर्भवन्ति तथा चतुर्द-

भेदसे दो प्रकारके हैं। इस प्रकार पंचेन्द्रिय दो, एकेन्द्रिय दो और विकलत्रय तीन (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) कुल सात भेद हुए। ये सातों पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकारके होते हैं, अतः कुल जीवोंके चउदह भेद निष्पन्न होते हैं। इन्हें ही 'जीवसमास' कहते है। क्योंकि समस्त जीवराशि इन चउदह स्थानोंमें ही पायी जाती है॥१२॥

हि० रू०—गाथा १२ मे जिस प्रकार चउदह जीवसमासोंकी अपेक्षा संसारी जीवोका कथन किया गया है उसी प्रकार इस गाथामे चउदह मार्गणाओ तथा चउदह गुणस्थानोंकी अपेक्षासे भी अशुद्धनयकी दृष्टिसे उनकी सम्भावनाका निरूपण किया गया है। वस्तुतः तो सभी ससारी जीव शुद्धस्वरूपकी दृष्टिसे जीवसमासादिके व्यपदेशसे रहित है और मात्र एक ज्ञायकस्वभावसे युक्त है। चउदह मार्गणाएँ और चउदह गुणस्थान निम्न प्रकार है।

१४ मार्गणा—गति, इन्द्रिय, काय, याग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा, और

शभिर्मार्गणागुणस्थानैश्च भवन्ति सम्भवन्तीति विज्ञेया ज्ञातव्याः। इदं चाशुद्धनयापेक्षयैव। शुद्धनयापेक्षया तु सर्वे जीवाः शुद्धाः जीवसमासादिव्यपदेशरहिताः सहजशुद्धज्ञायैकस्वभावा इति ॥१३॥

सं० व्या०—अधुना 'सिद्धः' इत्यस्य व्याख्यानं करोति—

निष्कर्माणः अष्टगुणाः किंचिदूनाः चरमदेहतः सिद्धाः।
लोकाग्रस्थिताः नित्याः उत्पादव्ययाभ्यां संयुक्ताः॥१४॥

आहार। यतः इन १४ द्वारोंसे या द्वारोंमें जीवोंका अन्वेषण किया जाता है, अतः इन्हें 'मार्गणा' (अन्वेषण-साधन) कहा जाता है। प्रत्येकका स्वरूप अन्य शास्त्रोंसे ज्ञातव्य है।

१४ गुणस्थान—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, देश-विरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली। ये जीवकी उत्तरोत्तर तरक्की (गुणोंकी वृद्धि) के स्थान हैं और इसलिए इन्हें 'गुणस्थान' कहा गया है। इनका प्रत्येकका स्वरूप भी अन्य ग्रन्थोंसे उपलभ्य है॥१३॥

हि० रू०—ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, औदारिकशरीरादि-नोकर्म और रागादि भावकर्मोंसे जो रहित हैं, सम्यक्त्वादि अष्टगुणोंसे सहित हैं, जिस शरीरसे मुक्त हुए हैं उस शरीरसे कुछ कम आकार वाले हैं, लोकाकाशके शिखरपर विराजमान हैं और उत्पाद तथा व्ययपरिणामसे युक्त होते हुए भी मुक्तत्व-रूप ध्रौव्यस्वभावका कभी भी त्याग नहीं करते, वे सिद्ध हैं॥१४॥

इस तरह ग्रन्थकर्त्ताने आठ अधिकारोंका अलग-अलग गाथा द्वारा कथन किया है। ऊर्ध्वगमन नामके नौवें अधिकार-

ज्ञानावरणादिकर्मनोकर्मभावकर्मरहिताः ज्ञानाद्यष्टगुणविशिष्टाः, चरमदेहतः सकाशात् किञ्चिदूना., लोकाग्रस्थिताः उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्ताः सिद्धा भवन्तीति। अत्र नित्यपदेन ध्रौव्यं ग्राह्यम्। 'ते सिद्धा' उत्पादव्यययुक्तत्वेऽपि ध्रौव्यस्वभावा, न कदाचिन्मुक्तत्वं परित्यजन्तीत्यर्थः ॥१४॥

का स्पष्ट कथन उन्होंने अन्य अधिकारोंकी तरह स्वतंत्र गाथाद्वारा नहीं किया। पर संस्कृत-टीकाकार ब्रह्मनेमिदत्तने इसी चउदहवीं गाथामें पूर्वार्ध द्वारा 'सिद्धत्व' अधिककारका और उत्तरार्ध द्वारा 'ऊर्ध्वगमन' अधिकारका कथन होनेका निर्देश अवश्य किया है।

भाषा-वचनिकाकार पं० जयचन्दजीने 'उक्तंच' करके 'ऊर्ध्वगमन'-सम्बन्धी एक गाथा प्रस्तुत की है, जो स्पष्टतया ऊर्ध्वगमनका प्रतिपादन करती है। उसका अर्थ इस प्रकार है:-

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार बन्धोंसे सब तरह रहित होता हुआ मुक्त जीव स्वभावतः ऊपरको जाता है। शेष कर्मबन्ध सहित जीव विदिशाओंको छोड़कर चारों दिशाओं, ऊपर और नीचे गमन करते हैं।

मुक्त जीवका स्वभावतः ऊर्ध्वगमन क्यों होता है, इसके कई कारण है।

एक तो यह कि उसे पहलेका अभ्यास रहता है। जैसे दण्डसे घुमाना छोड देने पर भी कुमारका चाक पूर्व संस्कारवश घूमता रहता है।

दूसरा कारण यह है कि वह (असंग—संग रहित) हो जाता है। जैसे मिट्टीके लेपसे आलिप्त तूमरी लेप छूटते ही पानीके ऊपर आ जाती है।

तीसरा कारण यह है कि उसका कर्मबन्ध उच्छिन्न हो

सं० व्या०—अतः परमजीवद्रव्यस्य व्याख्यानं करोति—

अजीव पुनः ज्ञेयः पुद्गलः धर्मः अधर्म आकाशम्।
कालः पुद्गलः मूर्त्तः रूपादिगुणः अमूर्त्ता शेषा. तु ॥१५॥

यो न चेतनावान् स अजीवो जड इत्यर्थः। स च पञ्चविधः—पुद्गलः, धर्मः, अधर्मः, आकाशम्, कालश्चेति। पुद्गलः रूपादिगुणयुक्तत्वेन मूर्त्तः। शेषास्तु धर्मादयश्चत्वारः रूपादिगुणाभावादमूर्त्ता भवन्तीति ॥१५॥

जाता है। जैसे एरण्डका बीज कोषके फटते ही चटककर ऊपरको ही जाता है।

चौथा हेतु यह है कि मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन करनेका परिणाम (स्वभाव) है। जैसे अग्निकी लौ निर्वात प्रदेशमें ऊपरको ही जाती है।

एक प्रश्न और यहाँ उठ सकता है और वह यह कि यदि मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है तो उसे अपने इस स्वभाव-के कारण अलोकाकाशमें भी चले जाना चाहिए, लोकाग्रमें ही वह क्यों ठहर जाता है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि जीव ऊर्ध्वगमनशील है, पर उसके गमनमें सहायक धर्मद्रव्यका अलोकाकाशमें अभाव है। अतः वह लोकाग्रमें स्थित हो जाता है। रेलमें चलनेकी शक्ति होते हुए भी वह वहीं तक जासकती है जहाँ तक उसके चलनेमें सहायक उसकी पटरी होती है, वह उससे आगे नहीं जा सकती।

इस प्रकार बारह गाथाओं द्वारा जीवद्रव्यका विवेचन किया गया ॥१४॥

हि० रू०—अब अजीवद्रव्यका व्याख्यान क्रमप्राप्त है। अजीवद्रव्य पांच प्रकारका है—१. पुद्गल, २. धर्म, ३. अधर्म,

सं० व्या०—पुद्गलद्रव्यं तावद् वर्णयति--

शब्दः बन्धः सूक्ष्मः स्थूलः संस्थानभेदतमश्छायाः ।
उद्योतातपसहिताः पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायः ॥१६॥

गाथोक्ता शब्दादयः पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायाः परिणामाः, अत एव ते पौद्गलिका ज्ञेयाः ॥१६॥

---

४. आकाश और ५ काल। इनमें रूपादिगुणसहित होनेके कारण पुद्गल मूर्त्तिक है और शेष द्रव्य रूपादिगुणवाले न होनेके कारण अमूर्त्तिक है ॥१५॥

हिं० रू०—शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, भेद, अन्धकार, छाया, उद्योत और आतप ये सब पुद्गलद्रव्यके परिणाम है और इसलिए ये सब पौद्गलिक है। इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है :—

शब्द—शब्द दो प्रकारका है—एक भाषात्मक और दूसरा अभाषात्मक। भाषात्मक शब्द भी दो प्रकारका है—एक अक्षर-रूप और दूसरा अनक्षररूप। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि भाषाएँ, जो मनुष्योंके लोकव्यवहारकी कारण हैं, अक्षरात्मक शब्द हैं। द्वीन्द्रिय आदि तिर्यंच जीवोंकी भाषा तथा सर्वज्ञकी दिव्यध्वनि दोनों अनक्षरात्मक शब्द हैं। अभाषात्मक शब्द भी दो तरहका है—एक प्रायोगिक और दूसरा वैस्रसिक। प्रयोगसे होनेवाले शब्दोंको प्रायोगिक कहते है। प्रायोगिक शब्द भी तत, वितत, घन और सुषिरके भेदसे चार प्रकारका होता है। वीणा आदिके शब्दको तत, तबला आदिके शब्दको वितत, मंजीरे तथा ताल आदिके शब्दको घन और वंशी आदि-की कोमल आवाजको सुषिर कहा जाता है। स्वभावसे होने

वाले मेघादिके शब्दको वैस्रसिक अभाषात्मक शब्द कहते हैं। इन सभी प्रकारके शब्दोंका अवरोध, ग्रहण, श्रुतिप्रवेश आदि होनेसे उन्हें जैन दर्शनमें पौद्गलिक माना गया है।

बन्ध—मिट्टी आदिका जो पिण्डरूप बन्ध है वह केवल पुद्गल-पुद्गलका बन्ध है। और जो जीवके साथ कर्म तथा नोकर्मका बन्ध है वह जीव और पुद्गलके संयोगसे होने वाला जीवाजीवका बन्ध है। वास्तवमें यह पुद्गलके निमित्तसे होनेके कारण पौद्गलिक ही है। व्यवहारनयसे वह आत्माका भी कहा गया है।

सूक्ष्मता—यह दो प्रकारकी है—एक आपेक्षिक और दूसरी अनापेक्षिक (स्वाभाविक)। वेलसे वेरमें और वेरसे चने आदिमें आपेक्षिक सूक्ष्मता है तथा परमाणुमें स्वाभाविक (अनापेक्षिक) सूक्ष्मता है।

स्थूलता—यह भी दो प्रकारकी है—एक आपेक्षिक और दूसरी अनापेक्षिक। चनेसे वेरमें और वेरसे वेल आदिमें आपेक्षिक स्थूलता है और लोकव्याप्त महास्कन्धमें अनापेक्षिक स्थूलता है।

आकार—त्रिकोण, चौकोण आदि आकार है।

भेद—टुकड़े, चूर्ण आदि भेद है।

अन्धकार—दृष्टिको रोकने वाला अन्धकार है।

छाया—पेड़ आदिके आश्रयसे होनेवाली तथा मनुष्य आदिकी परछांईको छाया कहते है।

उद्योत—चन्द्रमाके विमानमें तथा जुगुनू आदि तिर्यंच जीवोंमें जो ठण्डा और धीमा प्रकाश होता है उसे उद्योत कहते हैं।

आतप—सूर्यके विमानमें तथा सूर्यकान्त आदि मणिरूप पृथिवीकायमें जो उष्ण प्रकाश होता है वह आतप है।

सं० व्या०—धर्मद्रव्यं कथयति—

गतिपरिणतानां धर्मः पुद्गलजीवानां गमनसहकारी ।
तोयं यथा मत्स्यानां अगच्छतां नैव स नयति ।।१७।।

गतिं कुर्वतां जीवानां पुद्गलानां च गतौ यद् द्रव्यं सहकारि भवति तद् धर्मद्रव्य ज्ञेयम् । यथा मत्स्यानां गमने जलम् । अगच्छतां जीवानां पुद्गलानां वा धर्मद्रव्यं कदापि गमनं न कारयति । अत्रायं भाव.— षड्द्रव्येषु द्वावेव जीवपुद्गलौ क्रियावन्तौ, न शेषद्रव्याणि चत्वारि । यदा च जीवाः पुद्गला वा गतिपरिणता भवन्ति तदा धर्मद्रव्यं तेषां गतिपरिणतौ तथैव सहायकं भवति यथा मत्स्यानां गतौ जलम् । यदा तु ते न गच्छन्ति, न तदा तद्गतौ प्रेरकं धर्मद्रव्यमिति ॥१७॥

सं० व्या०—अथाधर्मद्रव्यमुपदिशति—

स्थानयुतानां अधर्मः पुद्गलजीवानां स्थानसहकारी ।
छाया यथा पथिकाना गच्छतां नैव स. धरति ।।१८।।

ये सब पुद्गलके विकार है । अतः पौद्गलिक है ।।१६।।

हि० रू०—गतिशील द्रव्य जीव और पुद्गल ये दो ही हैं । शेष चार द्रव्य अगतिशील है । अतः गमन करते हुए जीव व पुद्गलोके गमनमें जो द्रव्य सहकारी होता है वह धर्मद्रव्य हे । जैसे पानीमें चलती हुई मछलियोंके चलनेमें पानी सहायक होता है । पर धर्मद्रव्य उन्हें उसी प्रकार जबर्दस्ती नहीं चलाता, जिस प्रकार पानी मछलियोंको बलपूर्वक नहीं चलाता । धर्म-द्रव्य जीव-पुद्गलोंकी गतिमें अप्रेरक निमित्त है, प्रेरक नहीं । वृद्धकी लकड़ी, रेलकी पटरी आदि अप्रेरक निमित्तके उदाहरण समझना चाहिए ।।१७।।

स्थानयुक्तानां पुद्गलजीवानां स्थितौ यत् सहकारिकारणं भवति तदधर्मद्रव्यमुच्यते। तत्र दृष्टान्तः—यथा छाया पथिकानाम्। यदा पथिकाः स्थातुमिच्छन्ति तदा छाया तेषां स्थितौ सहकारिकारणं भवति। तथैवाधर्मद्रव्यं ज्ञेयम्। किन्तु स्वयं गच्छतो जीवपुद्गलान् स नैव धरतीति। इदमत्र तात्पर्यम्—स्वयमेव तिष्ठतां जीवपुद्गलानामधर्मद्रव्यं स्थितेः सहकारिकारणम्। छायावदिति, धर्मशालावद्वेति ॥१८॥

सं० व्या०—अथाकाशद्रव्यमाह—

अवकाशदानयोग्यं जीवादीनां विजानीहि आकाशम्।
जैनं लोकाकाशं अलोकाकाशं इति द्विविधम् ॥१९॥

जीवादीनां सकलद्रव्याणां यदवकाशदाने क्षमं तद्द्रव्यमाकाशं जिनोक्तं ज्ञेयम्। जिनस्येदं जैनं जिनेन प्रोक्तं वा जैनम्। तच्च लोकाकाशमलोकाकाशं चेति द्विविध निरूपितम्। वस्तुतस्तु तदेकमेव, उपाधिभेदादेव द्वैविध्यं भजते ॥१९॥

हि० रू०—जीव और पुद्गल जब ठहरनेकेलिए उन्मुख होते हैं, तो उनकी स्थितिमें उपादानकारण तो वे स्वयं होते हैं और सर्वसामान्य सहकारिकारण जो द्रव्य होता है उसी द्रव्यको अधर्मद्रव्य कहते हैं। यदि जीव और पुद्गल जा रहे हों और वे न ठहरें तो अधर्मद्रव्य उन्हें बलपूर्वक ठहराता नहीं है। जैसे छाया ग्रीष्मकालमें पथिकोंके ठहरनेमें सहायक होती है। छाया उन पथिकोंको प्रेरणा करके ठहराती नहीं है। इसी तरह धर्मशाला यात्रियोंके तथा स्टेशन रेलगाड़ीके ठहरनेमें अप्रेरक सहकारिकारण हैं। अतः उनका भी यहाँ उदाहरण दिया जा सकता है ॥१८॥

हि० रू०—जीवादि सभी द्रव्योंको अवकाश देनेमें जो द्रव्य समर्थ है उसे आकाश कहते हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव—सर्वज्ञने प्रति-

सं० व्या०—किं लोकाकाशं किञ्चालोकाकाशमित्यत्राह—

धर्माधर्मौ काल. पुद्गलजीवाः च सन्ति यावतिके ।
आकाशे सः लोक, ततः परतः अलोकः उक्तः ॥२०॥

यावत्याकाशे धर्माधर्मकालपुद्गलजीवाः सन्ति स लोक । तथा-चोक्तम्—'लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक इति'
[ ] तस्माल्लोकाकाशात्परतो बहिर्भागे पुनरनन्ता-काशमलोक इति । अत्राह—केवलज्ञानस्यानन्तभागप्रमितमाकाशद्रव्यं तस्याप्यनन्तभागे सर्वमध्यप्रदेशे लोकस्तिष्ठति । स चानादिनिधनः केनापि पुरुषविशेषेण न कृतो, न हतो, न धृतो, न च रक्षित । तथैवा-संख्यातप्रदेशः । तत्रासंख्यातप्रदेशे लोके अनन्ता जीवास्तेभ्योऽप्यनन्तगुणा पुद्गलाः, लोकाकाशप्रमितासंख्येयकालाणुद्रव्याणि, प्रत्येकं लोकाकाश-प्रमाणं धर्माधर्मद्वयमित्युक्तलक्षणाः पदार्थाः कथमवकाशं लभन्त इति ?

पादन किया है। उसके दो भेद है—१. लोकाकाश और २. अलो-काश। वास्तवमें आकाशद्रव्य एक ही है। ये दो भेद केवल उपाधिकी अपेक्षा कहे गये हैं। यों तो वह प्रदेशोंकी अपेक्षा अनन्त है ॥१९॥

हि० रू०—जितने आकाशमें धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव द्रव्य है उतने आकाशको लोकाकाश और उससे आगेके अनन्त आकाशको अलोकाकाश कहा गया है। लोककी व्युत्पत्ति भी यही है कि जहाँ जीवादिपदार्थ आलोकित होते है अर्थात् देखे जाते हैं वह लोक है और जहाॅ जीवादि पदार्थ नहीं देखे जाते—उपलब्ध नहीं होते—मात्र आकाश-ही-आकाश है, वह अलोक है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है। वह यह कि लोक असंख्यात

अत्रोच्यते—एकप्रदीपप्रकाशे नानाप्रदीपप्रकाशवत्, भस्मघटमध्ये सूचिकावत्, उष्ट्रीदुग्धवद्वेत्यादिदृष्टान्तेन विशिष्टावगाहनशक्तिवशाद-संख्यातप्रदेशेऽपि लोकेऽवस्थानमवगाहो न विरुद्ध्यते। यदि पुनरित्थं-भूतावगाहनशक्तिर्न भवेत् तर्ह्यसंख्यातप्रदेशेष्वसंख्यातपरमाणूनामेव व्यवस्थानं स्यात्, तथासति सर्वे जीवा यथा शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण निरावरणाः शुद्धबुद्धैकस्वभावास्तथा व्यक्तिरूपेण व्यवहारनयेनापि, न च तथा, प्रत्यक्षविरोधादागमविरोधाच्चेति ॥२०॥

सं० व्या०—अथ कालस्वरूपं कथयति—

द्रव्यपरिवर्त्तरूपः यः सः कालः भवेत् व्यवहारः।
परिणामादिलक्ष्यः वर्त्तनालक्षणः च परमार्थः ॥२१॥

यो हि द्रव्यपरिवर्त्तरूपः परिणामादिभिर्लक्षणीयः स व्यवहारकालो भवति। यश्च वर्त्तनया लक्षणीयः स परमार्थकाल इति। अत्रायं भावो

प्रदेशी है, इतने अल्प क्षेत्रमें अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल, असंख्यात कालाणुद्रव्य, असंख्यात-असंख्यात प्रदेशोंवाले धर्म और अधर्मद्रव्य कैसे समाते है? इसका उत्तर यह है कि आकाशमें अवगाहन-शक्ति है। इस शक्तिके बलसे ही सभी पदार्थ असंख्यात प्रदेशी लोकाकाशमें समा जाते है। जैसे एक प्रदीप-प्रकाशमें नानाप्रदीप-प्रकाश, अथवा राखसे भरे घटमें बहुत सुइयाँ और ऊँटनीका दूध समा जाता है ॥२०॥

हि० रू०—कालद्रव्य दो प्रकारका है—एक व्यवहारकाल और दूसरा परमार्थकाल (निश्चयकाल)। जो समय, घण्टा, दिन, मास, वर्ष आदिरूप है और द्रव्योंके परिवर्तन (नव, जीर्णादि), अथवा परिणमन, गोदोहन-पाकादि क्रिया तथा

विज्ञेयः—जीवपुद्गलयोः परिवर्त्तो नवजीर्णपर्यायस्तस्य या समयघटिकादिरूपा स्थितिः स्वरूपं यस्य स द्रव्यपर्यायरूपो व्यवहारकालो भवति । तस्य पर्यायस्य सम्बन्धिनी याऽसौ समयघटिकादिरूपा स्थितिः सा एव व्यवहारकालसंज्ञिका भवति न च पर्याय इत्यभिप्राय । यत एव पर्यायसम्बन्धिनी स्थितिर्व्यवहारकालसंज्ञां लभते तत एव जीवपुद्गलसम्बन्धिना परिणामेन पर्यायेण व्यवहारकालो लक्ष्यते ज्ञायते । एवमेव देशान्तरचलनरूपया गोदोहन-पाकादिपरिस्पन्दलक्षणरूपया क्रिययाऽपि स लक्ष्यते । तथैव दूरासन्न-ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वापरनामधेयेन कालकृतपरत्वापरत्वेन च लक्ष्यते । अत एव व्यवहारकाल. परिणामक्रियापरत्वापरत्वक्षण इत्युच्यते । स्वकीयोपादानरूपेण स्वयमेव परिणममानानां पदार्थानां कुम्भकारचक्रस्याधस्तनशिलावत् , शीतकालाध्ययनेऽग्निवद्वा, पदार्थपरिणतेर्यत्सहकारित्वं सा वर्त्तना भण्यते । सैव लक्षणं यस्य स वर्त्तनालक्षणः कालाणुद्रव्यरूपो निश्चयकालः इति व्यहारकालस्वरूपं निश्चयकालस्वरूपं च ज्ञेयम् ॥२१॥

ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्वरूप परत्वापरत्वद्वारा जाना जाता है वह व्यवहारकाल है। वास्तवमें जीव और पुद्गलकी पर्याय सम्बन्धी जो एक समय, दो समय आदिरूप स्थिति है वह व्यवहारकाल है। यह स्थिति पर्यायरूप भी नहीं है, क्योंकि वह पर्यायसे भिन्न है। अमुक पर्यायके अमुक काल (अवधि) तक ठहरनेका नाम स्थिति है, जो पर्यायसे स्पष्टतया अलग है और जिसे ही व्यवहारकालकी संज्ञा दी गई है। अपने उपादानरूपसे स्वयं ही परिणम रहे पदार्थोंके परिणमनमें जो सहकारीपना है वह वर्त्तना है। यह सहकारीपना जिस द्रव्यका है वही निश्चयकाल है। यह पदार्थोंके परिणमनमें उसी प्रकार सहकारी होता है जिस प्रकार कुम्हारके चाकके नीचेकी शिला चाकके परिणमनमें

सं० व्या०—अथ निश्चयकालस्यावस्थानक्षेत्रं द्रव्यगणनां च प्रतिपादयति—

लोकाकाशप्रदेशे एकैकस्मिन् ये स्थिताः हि एकैकाः ।
रत्नाना राशिः इव ते कालाणवः असंख्यद्रव्याणि ॥२२॥

लोकाकाशस्यैकैकस्मिन् प्रदेशे ये हि एकैकसंख्योपेताः परस्परतादात्म्यपरिहारेण रत्नानां राशिरिव स्थिताः ते कालाणवः । ते चासंख्येयाः लोकाकाशप्रमितासंख्येयद्रव्याणीत्यर्थ. ॥२२॥

सहकारी होती है। या जिस प्रकार शीतकालके अध्ययनमें अध्येताके लिए अग्नि सहायक होती है। यह निश्चयकाल कालाणुद्रव्यरूप है, स्कन्ध जैसा समूहात्मक या आकाश अथवा धर्माधर्म जैसा अखण्ड द्रव्य नहीं है। अपि तु खण्ड-खण्ड अणुरूप है। इस प्रकार दो तरहका काल जानना चाहिए॥२१॥

हि० रू०—लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर जो एक-एक संख्याको लिए हुए परस्पर तादात्म्यको छोड़कर रत्नोंकी राशिकी तरह स्थित है वे कालाणुद्रव्य है और उनकी संख्या लोकाकाशके प्रदेशों जितनी—अर्थात् असख्यात—है। न सख्यात है और न अनन्त।

इसका कारण यह है कि अनन्त जीव और अनन्त पुद्गल भिन्नस्वभावको लिए हुए होनेपर भी असंख्यात प्रदेशी लोकाकाशमें ही स्थित हैं। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य भी तिलोंमें तैलकी तरह लोकाकाशमें ही व्याप्त होकर रहते हैं। अतः इन सब द्रव्योंके परिणमनमें सहायकरूपसे असंख्यात कालाणु ही मानना उचित है। लोकाकाशके बाहर विद्यमान अनन्त आकाशके परिणमनमें लोकाकाशमें स्थित कालाणु ही सहायक

होता है, क्योंकि आकाश अखण्ड द्रव्य है और अखण्ड द्रव्यमें वह एकत्र (लोकाकाशके परिणमनमें) सहायक होता हुआ अन्यत्र (अलोकाकाशके परिणमनमें) भी सहकारी होता है। इसका नियामक आकाशद्रव्यका अखण्डत्व ही है। उदाहरणके तौरपर एक लम्बे तारको लीजिए। उसके एक भागमें कम्पन होनेपर उसके समस्त भागोंमें कम्पन देखा जाता है। यह मूर्त्त द्रव्यका एक स्थूल उदाहरण है। आकाशद्रव्य तो अमूर्त्त है। अतः उसमें एक जगह परिणमन होनेपर सर्वत्र परिणमन संभव है और तब उसके समस्त परिणमनोंमें एक ही कालाणुद्रव्यका सहकारी होना सर्वथा युक्त है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि फिर एक ही कालाणुद्रव्य माना जाना चाहिए, असंख्यात नहीं, क्योंकि धर्म, अधर्म, और आकाश इन अखण्ड द्रव्योंके परिणमनमें एक ही कालाणु सहायक सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि यदि सभी द्रव्य अखण्ड होते तो केवल एक ही कालाणुद्रव्यका माना जाना उचित था। पर सभी द्रव्य अखण्ड नहीं हैं, जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य सखण्ड है—अनन्त, अनन्त है और वे असंख्यातप्रदेशी लोकाकाशमें विद्यमान है। इसलिए कालाणुद्रव्य कम-से-कम और अधिक-से-अधिक लोकाकाशप्रदेशपरिमित—असंख्यात ही माने जाने योग्य है, न एक और न अनन्त। निष्कर्ष यह कि असंख्यातप्रदेशपरिमित लोकाकाशमें स्थित अनंत जीव और अनन्त पुद्गल इन दो सखण्ड द्रव्यों तथा एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य और एक आकाशद्रव्य इन तीन अखण्ड द्रव्योंके परिणमनमें सहायक असंख्यात कालाणुद्रव्य ही मानना आवश्यक एवं युक्त हैं ॥२२॥

सं० व्याख्या—अतः परं पञ्चास्तिकायव्याख्यानं करोति । तत्र प्रथमं षड्द्रव्यव्याख्यानोपसंहारं कुर्वन् पञ्चास्तिकायान् निर्दिशति—

एवं षड्भेदं इदं जीवाजीवप्रभेदत. द्रव्यम् ।
उक्तं कालवियुक्तं ज्ञातव्याः पञ्च अस्तिकायाः तु ॥२३॥

यत्खलु प्रथमगाथायां जीवाजीवभेदतो द्विविधं द्रव्यं निर्दिष्टं तदेव पूर्वोक्तप्रकारेण षड्भेदं प्रतिपादितम् । तदेव च षड्भेदं द्रव्यं कालेन वियुक्त रहितं सत् पञ्चास्तिकायरूपं पुनः ज्ञेयम् ॥२३॥

सं० व्या०—अस्तिकायानां पञ्चेति संख्या ज्ञाता । परन्तु तेषामस्तिकायत्वं कथमिति न ज्ञातम् । अत इदानी तदेवोच्यते—

सन्ति यतस्तेन एते अस्ति इति भणंति जिनवराः यस्मात् ।
काया इव बहुदेशास्तस्मात् कायाश्च अस्तिकायाश्च ॥२४॥

यत एते जीवाद्याकाशपर्यन्ता. पञ्च सन्ति विद्यन्ते, तेन कारणेनैव 'अस्ति' इति जिनवरा सर्वज्ञा भणन्ति । यस्माच्च एते काया इव

हि० रू०—ग्रन्थारम्भमें जो जीव और अजीवके भेदसे दो प्रकारके द्रव्योंका निर्देश किया गया है वे ही उपर्युक्त प्रकारसे अपने अवान्तर भेदोंकी अपेक्षा छह प्रकारके कहे गये हैं । इन छह द्रव्योंमें कालके विना शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय जानना चाहिए ॥२३॥

हि० रू०—उक्त पांच द्रव्योंको 'अस्तिकाय' क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर इस गाथामें दिया गया है । इसमें कहा गया है कि चूंकि ये 'हैं' इससे उन्हें सर्वज्ञदेवने 'अस्ति' ऐसी संज्ञा दी है और चूंकि वे कायकी तरह 'बहुत प्रदेशों वाले' हैं,

बहुप्रदेशास्तस्मात्कारणात् 'काया.' चेति भणन्ति सर्वज्ञाः । एवं न केवलं पूर्वोक्तप्रकारेणास्तित्वेन युक्ता अस्तिसंज्ञास्तथैव कायत्वेन युक्ताः कायसंज्ञा भवन्ति, किन्तूभयमेलनेनास्तिकायसंज्ञाश्च भवन्ति ॥२४॥

सं० व्या०—कस्य द्रव्यस्य कियन्तः प्रदेशा भवन्तीति प्रतिपादयति–

भवन्ति असंख्याः जीवे धर्माधर्मयोः अनन्ताः आकाशे ।
मूर्त्ते त्रिविधाः प्रदेशाः कालस्यैको न तेन स कायः ॥२५॥

एकस्मिन् जीवे धर्माधर्मयोश्चासंख्येया असंख्येयाः प्रदेशा भवन्ति । आकाशे अनन्ता. प्रदेशाः, मूर्ते पुद्गले च त्रिविधाः संख्येया असंख्येया अनन्ताश्च प्रदेशा भवन्ति । कालस्य एक एव प्रदेशः, तेन कारणेन स कायो न भवति ॥२५॥

इसलिए उन्हें 'काय' संज्ञा भी प्रदान की है। और इस तरह 'अस्ति' और 'काय' दोनों होनेसे उन्हें 'अस्तिकाय' की संज्ञा प्राप्त है। तात्पर्य यह है कि 'अस्ति और काय' दोनों होनेसे पांच द्रव्य 'अस्तिकाय' कहे जाते है। पर काल द्रव्य 'अस्ति' होते हुए भी 'काय' नही है और इसलिए उसे 'अस्तिकाय' नहीं कहा गया ॥२४॥

हि० रू०—एक जीवद्रव्य, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य इन तीन द्रव्योंमे प्रत्येकके असख्यात-असंख्यात प्रदेश हैं। आकाशके अनन्त प्रदेश है तथा मूर्त अर्थात् पुद्गलद्रव्यके तीनों प्रकारके प्रदेश है। अर्थात्—उसके सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेश है। तात्पर्य यह कि कोई पुद्गल-स्कन्ध संख्यातप्रदेशी है, कोई असंख्यात प्रदेशोंवाला है और कोई अनन्त प्रदेशोंको लिए हुए है। कालद्रव्यका एक ही प्रदेश है, इसीसे वह काय नहीं है अर्थात् बहुप्रदेशी नहीं है ॥२५॥

सं० व्या०—अथैकप्रदेशस्यापि पुद्‌गलपरमाणोर्यदस्तिकायत्वं सिद्धान्ते स्वीकृतं तत्र स्यात् ? अत्र समादधति—

एकप्रदेशः अपि अणुः नानास्कन्धप्रदेशतः भवति ।
बहुदेशः उपचारात् तेन च कायः भणन्ति सर्वज्ञाः ॥२६॥

यद्यपि पुद्‌गलपरमाणुरेकप्रदेश एवास्ति, बहुप्रदेशो नास्ति तथापि स स्कन्धरूपेण परिणमितुं क्षमः, स्कन्धश्च बहुप्रदेश अस्त्येव । तथा च बहुप्रदेशस्कन्धरूपपरिणमनयोग्यतासद्भावात् परमाणोरेकप्रदेशस्यापि उपचारात् भूतभाविप्रज्ञापननयरूपव्यवहारनयात् कायत्वमिति सर्वज्ञैः प्रतिपादितम् ॥२६॥

सं० व्या०—अथ कः प्रदेश इति प्रतिपादयति—

यावतिकमाकाशमविभागिपुद्‌गलाण्ववष्टब्धम् ।
तं खलु प्रदेशं जानीहि सर्वाणुस्थानदानार्हम् ॥२७॥

हि० रू०—यद्यपि पुद्‌गल परमाणु भी कालाणुकी तरह एक-प्रदेशी है, वह बहुप्रदेशी नहीं है और इसलिए उसे भी अस्तिकाय नहीं माना जाना चाहिए ? इसका समाधान यह है कि कालाणु तो दूसरे कालाणुओंसे संयुक्त होकर भी रत्नोंकी राशिकी तरह पृथक-पृथक ही रहते हैं—वे एकमेक (तादात्म्यपरिणतिको प्राप्त) नहीं होते। पर पुद्‌गलपरमाणु दूसरे परमाणुओं या स्कन्धोंसे मिलकर स्कन्धपरिणतिको प्राप्त हो जाते है—संश्लेश-अवस्था में वे पृथक् नहीं रहते। अतः पुद्‌गलपरमाणुको बहुप्रदेशी स्कन्धरूप परिणमनकी योग्यता रखनेके कारण सर्वज्ञने उप-चारसे अस्तिकाय कहा है। और कालाणुके संयुक्त होनेपर भी स्कन्धरूप परिणत न होनेके कारण उसे उपचारसे भी अस्तिकाय नहीं कहा ॥२६॥

यावत्प्रमाणमाकाशमविभागिपुद्गलपरमाणुना अवष्टब्धं व्याप्तं भवति तावदाकाशं स्फुटं प्रदेशं जानीहि। स च सर्वपरमाणूनां सूक्ष्मस्कन्धानां च स्थानदानस्यावकाशदानस्याहः समर्थ इति। यत एवेत्थंभूतावगाहनशक्तिरस्याकाशस्य तत एवासंख्यातप्रदेशेऽपि लोके अनन्तानन्तजीवास्तेभ्योऽप्यनन्तगुणपुद्गला अवकाशं लभन्ते इति ॥२७॥

इति द्रव्यसंग्रहस्य संक्षिप्तसंस्कृतव्याख्यायां प्रथमोऽधिकारः।

हि० रू०—जितने आकाशमें एक अविभागी पुद्गल-परमाणु रहे, उतने आकाशको प्रदेश कहते है। उसकी यह विशेषता है कि वह समस्त पुद्गलपरमाणुओंको भी अवकाश देनेमें समर्थ है। चूँकि इस प्रकारकी अवगाहनशक्ति आकाशमे विद्यमान है, इसीसे असंख्यप्रदेशी लोकमें अनन्तानन्त जीव और उनसे भी अनन्त गुने पुद्गल अवकाश प्राप्त कर लेते है अर्थात् रह जाते है ॥२७॥

॥ प्रथम अधिकार समाप्त ॥१॥



द्वितीय अधिकार

सं० व्या०—अथानन्तरं सप्ततत्त्वानां स्वरूपं निर्दिशति—

आस्रवबन्धनसंवरनिर्जरमोक्षाः सपुण्यपापाः ये ।
जीवाजीवविशेषाः तान् अपि समासेन प्रभणामः ॥२८॥

शुभाशुभपरिणामेन शुभाशुभकर्मागमनमास्रव. । जीवस्य कर्मप्रदेशैः सह संश्लेषो बन्ध. । शुभाशुभकर्मागमनसंवरणं संवरः । आस्रवनिरोध संवर इति वचनात् । कर्मपुद्गलानामेकदेशगलनं निर्जरा । जीवपुद्गलसंश्लेषरूपबन्धस्य कात्स्न्र्येन विश्लेषो मोक्षः । इष्टफलजनकं कर्म पुण्यम्, अनिष्टफलकारण पापम्, एताभ्यां सहिता ये आस्रवादय· पदार्था· तानपि समामेन वय प्रभणामः । ते च कथंभूताः ? जीवाजीवविशेषाः । विशेषा इत्यस्य कोऽर्थः ? पर्यायाः । जीवाजीवयोः संयोगजा विभागजाश्च परिणामा. । तत्रास्रवबन्धपुण्यपापाः परिणामाः संयोगजाः संवरनिर्जरमोक्षाश्च विभागजा इति भावः ।

हि० रू०—जीव और अजीव पदार्थों (द्रव्यों) के कथनके बाद अब इस अधिकारमें आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन पदार्थोंका भी कथन किया जाता है। ये पदार्थ स्वतंत्र नहीं हैं किन्तु उन्हीं जीव और अजीव (पुद्गल) पदार्थके संयोग तथा वियोगसे होनेवाले पर्याय (परिणाम) हैं। एक तत्त्वजिज्ञासुके लिए जहाँ जीव और अजीव पदार्थोंका ज्ञान आवश्यक है वहाँ उनके संयोगज एवं विभागज परिणामोंका भी ज्ञान होना जरूरी है। इसीसे ग्रन्थकार यहाँ उनका भी विवेचन कर रहे हैं ॥ २८ ॥

सं० व्या०—तत्रादौ गाथात्रयेणास्रवव्याख्यानं क्रियते—

आस्रवति येन कर्म परिणामेनात्मनः स विज्ञेयः।
भावास्रवो जिनोक्तः कर्मास्रवणं परो भवति ॥२९॥

आस्रवो द्विविधः—भावास्रवो द्रव्यास्रवश्च। आत्मनो येन परिणामेन कर्म आस्रवति स परिणामो भावास्रवो ज्ञेयः। एवं जिनेनोक्तम्, न मया। मया तु केवलं तदनूद्यते। ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मणामास्रवणमागमनं परो भवति। पर इति कोऽर्थ? भावास्रवादन्यो भिन्नो परो द्रव्यास्रव इत्यर्थः। भावास्रवनिमित्तत्वाज्ज्ञानावरणादीनां आस्रवत्वम्। किन्तु स द्रव्यास्रव इति भावः ॥२९॥

सं० व्या०—अथ भावास्रवस्वरूपं विशेषेण कथयति—

मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादयोऽथ विज्ञेयाः।
पञ्च पञ्च पञ्चदश त्रयश्चत्वारः क्रमशो भेदास्तु पूर्वस्य ॥३०॥

मिथ्यात्वं विपरीताभिनिवेशजनकं भण्यते। अव्रतरूपा चाविरति। मूलोत्तरगुणमलजनक प्रमादः। वीर्यान्तरायक्षयोपशमोत्पन्नो मनोवचन-

---

हि० रू०—आत्माके जिस रागादिरूप परिणामसे कर्म आता है वह भावास्रव है, ऐसा सर्वज्ञने कहा है और कर्मका जो आना है वह द्रव्यास्रव है। तात्पर्य यह कि आस्रव (कर्मागमन) दो तरहका है—एक भावास्रव और दूसरा द्रव्यास्रव। आत्माके जिन रागद्वेषादि परिणामोंसे ज्ञानावरणादि कर्म आत्मामे प्रविष्ट होते है उन परिणामोंका नाम भावास्रव है और ज्ञानावरणादि कर्मपुद्गलोंका आगमन द्रव्यास्रव है ॥ २९ ॥

हि० रू०—पाच मिथ्यात्व, पांच अविरति, पन्द्रह प्रमाद, तीन योग और चार क्रोधादि कषाय ये भावास्रवके भेद हैं।

कायवर्गणालम्बनः कर्मादानहेतुभूत आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगः । क्रूरत्वाद्यावेशरूपाः क्रोधादयश्चेत्युक्तलक्षणाः पञ्चास्रवा ज्ञातव्याः । तेषां प्रत्येकं कति भेदाः ? पञ्चपञ्चपञ्चदशत्रिचतुर्भेदाः क्रमशो भवन्ति । तथाहि—एकान्त-विपरीत-विनय-संशय-अज्ञानभेदात् मिथ्यात्वं पञ्चविधम् । हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहभेदात् पञ्चविधा अविरतिः । मनःसहितपञ्चेन्द्रियप्रवृत्तिपृथिव्यादिषट्कायविराधनाभेदेन द्वादशधापि अविरतिर्भवति । चतस्रो विकथाः, चत्वारः कषायाः, पञ्च इन्द्रियाणि, एका निद्रा, एकः स्नेह इति पञ्चदश प्रमादाः। मनोवचनकाय-व्यापारभेदेन त्रिविधो योगः । विस्तरेण पञ्चदशभेदो वा । क्रोधमान-मायालोभभेदेन कषायाश्चत्वारः । एते क्रोधादयोऽपि कषायाः प्रत्येकं अनन्तानुबन्धि-अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनभेदेन चत्वारश्चत्वारः । मिलित्वा सर्वे षोडश भेदाः । इमे सर्वे भेदाः पूर्वस्य गाथायां प्रथमत उल्लिखितस्य भावास्रवस्येत्यर्थः ॥३०॥

स० व्या०—अथ द्रव्यास्रवस्वरूपमुद्योतयति—

ज्ञानावरणादीनां योग्यं यत् पुद्गलद्रव्यं समास्रवति ।
द्रव्यास्रवः स ज्ञेयोऽनेकभेदो जिनाख्यातः ॥३१॥

ज्ञानमावृणोतीति ज्ञानावरणम्, तदादिर्येषां तानि ज्ञानावरणादीनि तेषां ज्ञानावरणादीनामष्टविधकर्मणां योग्यं कर्मवर्गणारूपं यत्पुद्गल-द्रव्यं जीवानां समास्रवति स द्रव्यास्रवो ज्ञेयः । सोऽपि ज्ञानदर्शना-वरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायसंज्ञानामष्टमूलप्रकृतीनां भेदेन—

इन ३२ भेदोंसे आत्मामें कर्मोंका आस्रव होता है। अतः ये आत्माके विभाव (अशुद्ध) परिणाम होनेसे भावास्रव कहे गये हैं ॥३०॥

हि० रू०—ज्ञानावरण आदिके योग्य जो कर्मवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य आत्मामें आता है वह द्रव्यास्रव है। यह द्रव्यास्रव

पण णव दु अट्ठवीसा चउ तियणवदी य दोण्णि पंचेव ।
वावण्णहीण-वियसय-पयडि-विणासेण होंति सिद्धादु ॥

इति गाथोक्तक्रमेणाष्टचत्वारिंशदधिकशतसंख्याप्रमितोत्तरप्रकृतिभेदेन चानेकविधो जिनेन प्ररूपितो ज्ञातव्य इति ॥३१॥

सं० व्या०—इत परं बन्धस्वरूपं गाथाद्वयेन कथयति—

बध्यते कर्म येन तु चेतनभावेन भावबन्धः सः ।
कर्मात्मप्रदेशानामन्योन्यप्रवेशनमितरः ॥३२॥

आत्मनो येन भावेन रागादिपरिणामेन कर्म बध्यते स भावो भावबन्धः । यश्च कर्मात्मप्रदेशयोः परस्परानुप्रवेश स द्रव्यबन्धः । जीवो हि रागादिपरिणामेन कर्माणि बध्नाति स रागादिपरिणामो भावबन्धः । नीरक्षीरवत्पुद्गलकर्मात्मसंश्लेषस्तु द्रव्यबन्ध इति भावः ॥३२॥

सं० व्या०—द्रव्यबन्धस्य भेदान् कारणं च कथयति—

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात् तु चतुर्विधो बन्धः ।
योगात्प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतः भवतः ॥३३॥

भी भावास्रवको तरह जिनेन्द्रने अनेक प्रकारका कहा है । मूलमें वह ज्ञानावरण दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायके भेदसे आठ प्रकारका है तथा इनके प्रत्येकके भी क्रमशः पांच, नव, दो, अट्ठाइस, चार, तेरानवे, दो और पांच भेद होनेसे वह एकसौ अड़तालीस प्रकारका भी है ॥३१॥

हि० रू०—जिन रागादि परिणामोंसे जीवके कर्मोंका बन्ध होता है वे भावबन्ध है और जीव तथा कर्मपुद्गलोंका दूध-पानीकी तरह जो परस्पर एकमेक होना है वह द्रव्य-बन्ध है ॥३२॥

बन्ध. प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेशभेदात् पुनश्चतुर्विधोऽपि ज्ञातव्यः। ज्ञानावरणादीनां ज्ञानावारकत्वादिस्वभाव प्रकृति, तेषामेव जीवे कालमर्यादा स्थिति, तारतम्येन तेषां फलदानसामर्थ्यविशेषोऽनुभाग, प्रतिसमयमागच्छतां कर्मणा संख्याविशेष प्रदेशः। तत्र मनोवाक्काय-व्यापाररूपात् योगत्प्रकृतिप्रदेशौ, क्रोधादिकषायोदयात्स्थित्यनुभागौ भवत इति ॥३३॥

सं० व्या०—अत ऊर्ध्वं संवरपदार्थः कथयति--

चेतनपरिणामो यः कर्मणः आस्रवनिरोधने हेतुः।
सः भावसंवरः खलु द्रव्यास्रवरोधनोऽन्यः ॥३४॥

यश्चेतनपरिणाम कर्मणामास्रवनिरोधने कारणं भवति स भावसंवरः। यश्च कर्मणामास्रवनिरोध स द्रव्यसंवर इति द्रष्टरमुन्नेयम् ॥३४॥

हि० रू०—पूर्व गाथामे सामान्यतः बन्धके भावबन्ध और द्रव्यबन्ध ये दो भेद गिनाये गये हैं। और इस गाथामें द्रव्यबन्धके भेदों तथा उनके कारणोंको बताया गया है। द्रव्य-बन्ध चार प्रकारका है--प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग-बन्ध और प्रदेशबन्ध। ज्ञानावरण आदि कर्मोंमे ज्ञान आदि आत्मा-गुणोंको रोकनेका जो स्वभाव होता है वह प्रकृतिबन्ध है। जीवके साथ बन्धको प्राप्त कर्म जबतक जीवके साथ रहें उसे स्थितिबन्ध कहते हैं। उन कर्मोंमें न्यूनाधिकताको लेकर जो फल देनेकी विशेष शक्ति होती है वह अनुभागबन्ध है और प्रति समय आनेवाले कर्मोंकी संख्याका नाम प्रदेशबन्ध है। इनमे प्रकृति और प्रदेशबन्ध योग अर्थात् मन, बचन और काव्यके व्यापारसे होते हैं तथा स्थिति और अनुभागबन्ध क्रोधादि कषायोंसे होते हैं ॥३३॥

हि० रू०—संवरका अर्थ रोकना है। आत्माका जो शुद्ध

सं० व्या०—भावसंवरस्वरूपं प्रतिपादयति—

व्रतसमितिगुप्तयो धर्मानुप्रेक्षाः परीषहजयश्च ।
चारित्रं बहुभेदं ज्ञातव्या भावसंवरविशेषाः ॥३५॥

अहिंसादीनि व्रतानि, ईर्यादयः समितयः, मनोगुप्त्यादयो गुप्तयः क्षमादयो धर्माः, अनित्यादयोऽनुप्रेक्षाः, क्षुधादयः परीषहा, सामायिकादिकं बहुविधं चारित्रम्, एते सर्वे मिलित्वा भावसंवरस्य विशेषा भेदा ज्ञातव्याः। एभिर्हि कर्मणामागामिनां संवरो भवति इति ध्येयम् ॥३५॥

सं० व्या०—सम्प्रति निर्जरातत्त्वं कथयति—

यथाकालं तपसा च भुक्तरसः कर्मपुद्गलो येन ।
भावेन सडति ज्ञेया तस्सडनं चेति निर्जरा द्विविधा ॥३६॥

आत्मनो येन भावेन कर्मपुद्गलः फलं दत्वा कालं सम्प्राप्य निर्जीर्यते स भावो भावनिर्जरा ज्ञेया। येन च भावेन कर्मपुद्गलानां निर्जरा

परिणाम कर्मागमनको रोकता है वह भावसंवर है और जो उन कर्मोंका रुकना है वह द्रव्यसंवर है। इन दोनों सवरोंमें द्रव्यसंवर स्पष्ट है और भावसंवरका स्पष्टीकरण स्वयं ग्रन्थकार अगली गाथामें कर रहे है ॥३४॥

हि० रू०—अहिंसादि पाँच व्रतों, ईर्यादि पाँच समितियों मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियों, क्षमादि दश धर्मों, अनित्यादि दश अनुप्रेक्षाओं, क्षुधादि बाईस परीषहों और सामायिकादि पाँच चारित्रोंके पालनसे निश्चय ही आ रहे कर्मोंका अवरोध होता है, इसीसे ये सब भावसंवरके भेद माने गये हैं ॥३५॥

हि० रू०—आत्माके जिन भावोंसे कर्म-पुद्गल स्थिति पूरी करके अपना फल देकर झड़ जाते हैं उन भावोंको सविपाक-

तपसा विधीयते साऽपि भावनिर्जरा। केवलमयमेव विशेषो यत्पूर्वा सविपाकनिर्जरा उत्तरा चाविपाकनिर्जरा। कर्मपुद्गलानां निर्जरणं द्रव्यनिर्जरा। एवं निर्जरा द्विविधा बोध्या ॥३६॥

सं० व्या०—अथ मोक्षतत्त्वं निरूपयति—

सर्वस्य कर्मणो यः क्षयहेतुरात्मनो हि परिणामः।
ज्ञेयः स भावमोक्षो द्रव्यविमोक्षश्च कर्मपृथग्भावः ॥३७॥

यद्यपि सामान्येन निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मन आत्यन्तिकस्वाभाविकाचिन्त्याद्भुतानुपमसकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणास्पदमवस्थान्तरं मोक्षो भण्यते तथापि विशेषेण स भावद्रव्यरूपेण द्वैविध्यं भजते। तद्यथा—आत्मनो यो हि परिणामः सर्वस्य ज्ञानावरणादिकर्मण क्षयहेतु. स भावमोक्षो ज्ञातव्यः। यश्च सर्वकर्मणामात्मनः सकाशात्पृथग्भावः स द्रव्यमोक्ष इति ॥३७॥

सं० व्या०—अधुना पुण्यपापे तत्त्वे कथयति—

शुभाशुभभावयुक्ताः पुण्या पापा भवन्ति खलु जीवाः।
सातं शुभायुर्नाम गोत्रं पुण्यं पराणि पापं च ॥३८॥

भावनिर्जरा कहते हैं और तपके द्वारा बलात् जो कर्मपुद्गल झड़ाये जाते हैं उन भावोंको अविपाकभावनिर्जरा कहा गया है। तथा कर्मपुद्गलोंका जो झड़ना है वह द्रव्यनिर्जरा है। इस प्रकार निर्जरा दो प्रकारकी जानना चाहिए ॥३६॥

हि० रू०—यद्यपि सामान्यसे समस्त कर्मकलङ्कोंसे रहित अशरीरी आत्माकी आत्यन्तिक, स्वाभाविक और अनुपम केवलज्ञानादि गुणोंसे युक्त अवस्थाविशेषको मोक्ष कहा गया है तथापि यहाँ ग्रन्थकारने विशेषरूपसे द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारके मोक्षका निरूपण किया है। जिन भावोंसे समस्त कर्मोंका क्षय होता है वे भाव भावमोक्ष हैं और उन कर्मोंका आत्मासे पृथक् होना द्रव्यमोक्ष है ॥३७॥

जीवा द्विविधाः—पुण्याभिधा पापाभिधाश्च। ये शुभभावयुक्तास्ते पुण्याभिधा, ये चाशुभभावयुक्तास्ते पापाभिधा। तत्र किं पुण्यम्? किञ्च पापम्? अत्रोच्यते—सातं वेदनीयं, शुभायु, शुभनाम, शुभगोत्रं चेति चत्वारि कर्माणि पुण्यमित्युच्यते। असातवेदनीयं, अशुभायु, अशुभनाम, अशुभगोत्रमुच्चगोत्रमित्यर्थः, एतानि कर्माणि पापमित्यभिधीयते। एवमघातिकर्माणि पुण्य पापं चेत्युभयरूपाणि। किन्तु घातिकर्माणि तु सर्वाण्येव पापमिति न तेषु पुण्यपापविभागोऽभिहित ॥३८॥

इति द्रव्यसंग्रहस्य संक्षिप्तसंस्कृतव्याख्यां द्वितीयोऽधिकार ॥२॥

हि० रू०—पुण्य और पाप पदार्थोंका कथन करनेके लिए इस गाथाका अवतार हुआ है। इसमें कहा गया है कि जीव दो प्रकारके हैं—एक पुण्य-जीव और दूसरे पाप-जीव। शुभ भावोंसे युक्त जीवोंको पुण्य-जीव और अशुभ भावों वाले जीवोंको पाप-जीव कहा गया है। पुण्य क्या है और पाप क्या है? इसका भी उत्तर देते हुए आचार्यने बताया है कि सातवेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये चार कर्म तो पुण्य हैं तथा असातवेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और अशुभ गोत्र ये चार पाप है। यहाँ ज्ञातव्य है कि अघातिकर्म पुण्य और पाप दोनोंरूप है। किन्तु घातिकर्म सब पापरूप ही है, अतः उनकी परिगणना पाप-प्रकृतियोंमें की जाती है। इसका कारण यह है कि घातिकर्म तो जीवके अनुजीवी (भावात्मक) गुणोंको घातते है—उन्हें प्रकट नहीं होने देते और इसीसे उन्हें 'घातिकर्म' तथा पाप कहा है। पर 'अघातिकर्म' अनुजीवी गुणोंको नहीं घातते—वे केवल प्रतिजीवी (अभावात्मक) गुणोंको रोकते हैं। अत एव अघातिकर्म पुण्य और पाप दोनोंरूप बतलाये गये हैं ॥३८॥

॥ द्वितीय अधिकार समाप्त ॥२॥



तृतीय अधिकार

स० व्या०—अथ द्विविधमोक्षमार्गं प्ररूपयति—

सम्यग्दर्शनं ज्ञानं चरणं मोक्षस्य कारणं जानीहि ।
व्यवहारान्निश्चयतस्तत्त्रिकमयो निज आत्मा ॥३९॥

व्यवहारनयात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं मोक्षस्य कारण ज्ञातव्यम् । निश्चयनयात्तु तत्त्रितयमयो निजात्मा मोक्षस्य कारणमिति । अयं भाव — वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थानां सम्यक्श्रद्धानं सम्यक्दर्शनम्, तेषामेव सम्यगवबोध. सम्यग्ज्ञानम्, व्रताद्यनुष्ठानं सम्यक्चारित्रम्, एतेषां त्रयाणां समुदयो व्यवहारमोक्षमार्गः । नित्यनिरञ्जनशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणैकाग्र्यपरिणतिरूपो निश्चयमोक्षमार्गः । अथवा धातुपाषाणेऽग्निवत्साधको व्यवहारमोक्षमार्ग, सुवर्णस्थानीयनिर्विकारस्वोपलब्धिसाध्यरूपो निश्चयमोक्षमार्गः । एवं संक्षेपेण व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गलक्षणं ज्ञेयमिति ॥३९॥

हि० रू०—व्यवहार और निश्चय इन दो नयोंसे कथन होनेसे मोक्षमार्ग भी दो प्रकारका है। एक व्यवहार-मोक्षमार्ग और दूसरा निश्चय-मोक्षमार्ग। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंका समुदाय व्यवहार-मोक्षमार्ग है। तथा उन तीनोंरूप अपना आत्मा निश्चय-मोक्षमार्ग है। तात्पर्य यह कि भेदरत्नत्रय व्यवहार-मोक्षमार्ग है और अभेदरत्नत्रय निश्चय-मोक्षमार्ग। अतः भेदाभेदात्मक रत्नत्रयको मोक्षका कारण जानना चाहिए ॥३९॥

सं० व्या०—अथ रत्नत्रयं कथं मोक्षमार्ग ? अत्रोच्यते—

रत्नत्रयं न वर्त्तते आत्मानं मुक्त्वाऽन्यद्रव्ये ।
तस्मात्तत्त्रिकमयो भवति खलु मोक्षस्य कारणमात्मा ॥४०॥

यस्माद्रत्नत्रयमात्मानं मुक्त्वाऽन्यात्राचेतने द्रव्ये न वर्तते, तस्मात्त्रिकमय आत्मैव खलु निश्चयेन मोक्षस्य कारणं भवतीति ॥४०॥

स० व्या०—अथ किं सम्यग्दर्शनम् ? किञ्च तस्य महत्त्वम् ? अत्राह—

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं रूपमात्मनस्तत्तु ।
दुरभिनिवेशविमुक्तं ज्ञानं सम्यक् खलु भवति सति यस्मिन् ॥४१॥

वीतरागसर्वज्ञप्रणीतजीवादितत्त्वविषये चलमलिनावगाढाख्यदोषवर्जितं श्रद्धानं रुचिः प्रतीतिरिदमेवेत्थमेवेति निश्चयात्मिका बुद्धिः सम्यग्दर्शनम् । तत्तु रूपमात्मनः आत्मपरिणाम इत्यर्थः । यस्मिन् सम्यग्दर्शने सति ज्ञानं संशयादिरहितं सत् सम्यग्व्यपदेशं लभते । न तदभावे । अतः सम्यक्त्वस्य महत्त्वं स्फुटमेव ॥४१॥

हि० रू०—चूंकि रत्नत्रय आत्माको छोड़कर अन्य अचेतन द्रव्योंमें उपलब्ध नहीं होता। अतः रत्नत्रयस्वरूप आत्माको निश्चयसे मोक्षका कारण कहा गया है ॥४०॥

हि० रू०—वीतराग सर्वज्ञोक्त तत्त्वोंमें 'यही है', 'इसी तरहका है', इस प्रकारकी निश्चल, निर्मल और स्थिर श्रद्धा, रुचि एवं प्रतीतिका होना सम्यग्दर्शन है। इसके होनेपर ज्ञान संशयादिसे मुक्त होकर सम्यक् नाम पाता है। जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता, तबतक ज्ञान कितना ही बड़ा हो, सम्यक् व्यपदेशको नहीं पाता और न सशयादिसे मुक्त होता है। इससे सम्यक्त्वका महत्त्व स्पष्ट है ॥४१॥

सं० व्या०—अथ कीदृग् सम्यग्ज्ञानमित्याह—

संशयविमोहविभ्रमविवर्जितमात्मपरस्वरूपस्य ।
ग्रहणं सम्यग्ज्ञानं साकारमनेकभेदं च ॥ ४२ ॥

तत्त्वेषु चलितप्रतिपत्तिरूपः संशयः, स्थाणुर्वा पुरुषो वेतिवत् । किमित्यालोचनमात्र विमोहोऽनध्यवसायः, गच्छत्तृणस्पर्शवत् । विपरीतनिश्चयो विभ्रमो विपर्यय, शुक्तिकायां रजतमिति ज्ञानवत् । इत्युक्तलक्षणसंशयविमोहविभ्रमैर्मिथ्याज्ञानैः वर्जितमात्मपरस्वरूपस्य ग्रहणं यत्तत् सम्यग्ज्ञानं भवति । तच्च साकारं सविकल्पकं व्यवसायात्मकं निश्चयात्मकमित्यर्थः । अनेकभेदं चानेकप्रकारमित्यर्थः । मतिज्ञानम्, श्रुतज्ञानम्, अवधिज्ञानम्, मनःपर्ययज्ञानम्, केवलज्ञानं चेति पञ्चधा सम्यग्ज्ञानं पूर्वं व्यासत उक्तम् । प्रत्यक्षपरोक्षभेदावपि तस्य प्राग् वर्णितौ । अत्र मोक्षमार्गप्रकरणे सम्यग्ज्ञानेन श्रुतज्ञानं विवक्षितं वर्तते । तच्च

हि० रू०—संशय, विमोह और विभ्रम इन तीन मिथ्याज्ञानोंसे रहित जो अपने और परके स्वरूपका ग्रहण करना है वह सम्यग्ज्ञान है। यह वस्तुस्वरूपका यथार्थ निश्चय कराता है, अतएव उसे साकार अर्थात् सविकल्पक (निश्चयात्मक) कहा गया है।

यह मतिज्ञान आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है। जैसा कि आरम्भमें उपयोगका कथन करते समय कहा जा चुका है। यहाँ मोक्षमार्गका प्रकरण होनेसे सम्यग्ज्ञानसे श्रुतज्ञान विवक्षित है, क्योंकि श्रुतज्ञान ही मुख्यतया स्व और परके स्वरूपका मुमुक्षुको ज्ञान कराता है। यह श्रुतज्ञान द्वादशाङ्गरूप है और उसके अङ्गप्रविष्ट तथा अङ्गबाह्य ये दो भेद हैं। अङ्गप्रविष्टके भी आचाराङ्ग आदि बारह भेद हैं और अङ्गबाह्यके सामायिक

द्वादशाङ्गमङ्गप्रविष्टमङ्गबाह्यं चेति द्विप्रकारम् । अङ्गप्रविष्टं पुनः द्वादशविधम्, आचारादिभेदात् । अङ्गबाह्यं च चतुर्दशविधम्, सामायिकादिभेदादिति ॥४२॥

सं० व्या०—यदि ज्ञानं सविकल्पकं तर्हि दर्शनास्य को भेद इत्यत्राभिधीयते—

> यत्सामान्यं ग्रहणं भावानां नैव कृत्वाऽऽकारम् ।
> अविशेषयित्वार्थान् दर्शनमिति भण्यते समये ॥४३॥

साकारं ज्ञानं निराकारं दर्शनमिति ज्ञानदर्शनयोर्भेदः । आकार विकल्प नैव कृत्वा, अर्थान् पदार्थान् चाविशेषयित्वा घटोऽयं पटोऽयं शुक्लोऽयं कृष्णोऽयं दीर्घोऽयं ह्रस्वोऽयमित्यादिरूपेणार्थेषु भेदमगृहीत्वा यत् भावानां पदार्थानां सामान्येन ग्रहणं सत्तावलोकनं भवति तद्दर्शनमिति समये परमागमे भण्यते । अत्रायं भावः—यदा कोऽपि किमप्यवलोकयति पश्यति, तदा यावत् विकल्पं न करोति तावत् सत्तामात्रग्रहणं दर्शनम् । पश्चात्घटादिविकल्पे जाते ज्ञानमिति विवेकः ।

आदि चउदह भेद हैं । इनका विस्तृत विवेचन अन्य जैन ग्रन्थों-से जानना चाहिए ॥४२॥

हि० रू०—ज्ञान और दर्शनके अन्तरको बतलाते हुए इस गाथामें कहा गया है कि साकार—सविकल्पक ग्रहण ज्ञान है और निराकार—निर्विकल्पक ग्रहण दर्शन है । बिना विकल्प उठे और 'यह घट है, यह पट है, यह कृष्ण है, यह शुक्ल है, यह दीर्घ है, यह ह्रस्व है' इत्यादि रूपसे पदार्थोंमें भेद न करके जो उनका सत्तावलोकनरूप सामान्य-ग्रहण होता है उसे दर्शन कहा है । तथा विकल्पको लिए हुए और पदार्थोंमें 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि रूपसे जो उनका विशेष ग्रहण है वह ज्ञान है । तात्पर्य यह कि जब विकल्प रहित ग्रहण होता है तब

ननु सम्यग्दर्शनमेवेदं दर्शनमिति चेन्न, सम्यग्दर्शनस्य श्रद्धानरूपत्वात्, अस्य दर्शनस्य त्ववलोकनात्मकत्वात्। दर्शनं सर्वेषां संसारिणां भवति, सम्यग्दर्शनं तु सम्यग्दृष्टेरेवेति महदन्तरमनयोरिति ॥४३॥

सं० व्या०—दर्शनज्ञानयोः कथं प्रवृत्तिरित्यत्राह—

दर्शनपूर्वं ज्ञानं छद्मस्थानां न द्वावुपयोगौ।
युगपत् यस्मात् केवलिनाथे युगपत्तु तौ द्वावपि ॥४४॥

यतः छद्मस्थानामल्पप्रज्ञानां युगपद् द्वावुपयोगौ न भवतस्ततस्तेषां पूर्वं सत्तावलोकनरूपं दर्शनं भवति, तदनन्तरं ज्ञानमिति तयोः क्रमशः प्रवृत्तिः, क्षायोपशमिकत्वात्। केवलिनि तु तौ द्वावपि युगपत्भवतः, न तत्र तयोः क्रमवृत्तिस्तदावरणयोर्युगपद्विश्लेषादिति ॥४४॥

वह दर्शन कहा जाता है और जब घटादिका विकल्प होता है तो वह ज्ञान कहलाता है। यही दर्शन और ज्ञानमें मौलिक अन्तर है।

यह दर्शन सम्यग्दर्शनसे भी भिन्न है। दर्शन सामान्याव-लोकनरूप है और सम्यग्दर्शन सम्यक्श्रद्धानरूप है। दूसरे, दर्शन सभी जीवोंके होता है। पर सम्यग्दर्शन केवल सम्यग्दृष्टि जीवोंके होता है। तीसरे, दर्शन मोक्षमार्गमें अनुपयोगी है, जबकि सम्यग्दर्शन मोक्षमार्गमें उपयोगी है ॥४३॥

हि० रू०—चूंकि अल्पप्रज्ञोंके दो उपयोग एकसाथ नहीं होते। अतः उनके पहले दर्शन होता है और बादको ज्ञान; क्योंकि उनके वे दोनों उपयोग क्षायोपशमिक हैं। परन्तु केवली (सर्वज्ञ) में वे दोनों उपयोग एकसाथ होते हैं, क्रमशः नहीं; क्योंकि दोनों उपयोगोंके दोनों आवरणों (दर्शनावरण और ज्ञानावरण) का अभाव एकसाथ होता है। निष्कर्ष यह

सं० व्या०—अथ सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं चाभिधाय रत्नत्रयात्मक-मोक्षमार्गस्य तृतीयावयवभूतं सम्यक्चारित्रं व्याख्यातुकामः प्रथमतो व्यवहारचारित्रं प्रतिपादयति—

असुभादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं ।। (मूल पाठ न छपा)

अशुभाद्विनिवृत्तिः शुभे प्रवृत्तिश्च जानीहि चारित्रम् ।
व्रतसमितिगुप्तिरूपं व्यवहारनयात्तु जिनभणितम् ।।४५।।

यत्खल्वशुभान्मनोवाक्कायव्यापाराद्विरमणं शुभे जिनपूजादान-परोपकारादिरूपे मनोवाक्कायव्यापारे च प्रवर्तनं तज्जिनेन व्यवहारनया-च्चारित्रं भणितम् । तच्च व्रतसमितिगुप्तिरूपमुक्तम् । इदमेव व्यवहार-चारित्रं सरागचारित्रमित्यप्युच्यते । तत्राहिंसादीनि पञ्च व्रतानि, ईर्यादय पञ्च समितयः, मनोगुप्त्यादयस्तिस्रो गुप्तयः । मिलित्वा त्रयोदशप्रकारं व्यवहारचारित्रं बोध्यम् । अथवा देशचारित्रसकलचारित्राभ्यां व्यवहार-चारित्रं द्विविधम् । तत्र देशचारित्रं त्रिविधं द्वादशविधं वा । अणु-गुण-

---

कि छद्मस्थोंके दर्शन और ज्ञान क्रमसे होते हैं और केवलीके वे युगपत् होते हैं ।।४४।।

हि० व्या०—हिंसा, असत्य-भाषण, चोरी, कुशील, परिग्रहा-सक्ति, छल आदि अशुभ प्रवृत्तियोंसे विरत होना तथा जिन-पूजा, दान, परोपकार, वैयावृत्य आदि शुभ प्रवृत्तियोंमें लगना व्यवहारनयसे जिनदेवने चारित्र बतलाया है। यह चारित्र ५ व्रतोंका आचरण, ५ समितियोंका पालन और ३ गुप्तियोंका आराधनरूप है और इस तरह यह तेरह प्रकारका कहा गया है। अथवा, देशचारित्र और सकलचारित्रके भेदसे व्यवहार-चारित्र दो प्रकारका भी है। उनमें देशचारित्र तीन तरहका है और बारह प्रकारका भी है। उसके तीन भेद ये हैं—अणु-व्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत। तथा बारह भेद इस प्रकार हैं—

शिक्षाव्रतभेदास्त्रिविधम् । द्वादशभेदा इत्थम्:—अणुव्रतानि पञ्च, गुणव्रतानि त्रीणि, शिक्षाव्रतानि चत्वारि । तद्यथा—अहिंसा, सत्यम्, अचौर्यम्, ब्रह्मचर्यम्, परिग्रहपरिमाणं चेति पञ्चाणुव्रतानि । दिग्व्रतम्, देशव्रतम्, अनर्थदण्डविरतिश्चेति त्रीणि गुणव्रतानि । सामायिकम्, प्रोषधोपवासः, भोगोपभोगपरिमाणम्, अतिथिसंविभागश्चेति चत्वारि शिक्षाव्रतानि । एवं त्रिविधमपि देशचारित्र द्वादशविध विज्ञेयम् । एतत्सर्वं गृहस्थानां चारित्रम् । साधूनां सकलचारित्रमष्टाविंशतिमूलगुणरूपमिति दिक् । विशेषतो ग्रन्थान्तरेभ्य. प्रतिपत्तव्यः ॥४५॥

सं० व्या०—अधुना व्यवहारचारित्रेण साध्यं निश्चयचारित्रं निरूपयति—

बहिरभ्यन्तरक्रियारोधो भवकारणप्रणाशार्थम् ।
ज्ञानिनो यज्जिनोक्तं तत्परमं सम्यक्चारित्रम् ॥ ४६ ॥

भवः संसारो जन्मजरामरणादिरूपस्तस्य कारणं शुभाशुभकर्मास्र-

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण ये पांच अणुव्रत हैं। दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभाग और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत है। इस प्रकार देशचारित्रके बारह भेद हैं।

यह सब गृहस्थोंका चारित्र है। साधुओका चारित्र सकलचारित्र कहा जाता है, जो अट्ठाइस मूलगुणरूप है और जिसका वे निरन्तर पालन करते हुए यथाख्यातचारित्र प्राप्त करनेके लिए उद्यत रहते है। यह व्यवहारचारित्रका संक्षेपमें कथन है। विशेष कथन चरणानुयोगके ग्रन्थोंसे जानना चाहिए ॥४५॥

हि० रू०—संसारसे मुक्त होनेके लिए ज्ञानी जीव जब

वस्तस्य विनाशार्थं सम्यग्ज्ञानिवो यो बहिर्विषये शुभाशुभवचनकायव्यापाररूपाया आभ्यन्तरे शुभाशुभमनोविकल्परूपायाश्च क्रियाया व्यापारस्य निरोधस्त्याग स जिनदेवेन परममुत्कृष्टं निश्चयाख्यं सम्यक्चारित्रमुक्तमिति। अत्राय भावः—यदाऽऽत्मा सम्यग्ज्ञानीभूत्वा बहिर्विषये सकलान् व्यापारान् वाचिकान् कायिकान् वा परिहृत्याभ्यन्तरे निखिलान् मनोव्यापारान् च दूरीकृत्याऽऽत्मन्येव स्थिरो भवति तदा तस्य निश्चयचारित्रमित्यभिधीयते ॥४६॥

सं० व्या०—साम्प्रत ध्यानाभ्यासमुपदिशति—

द्विविधमपि मोक्षहेतु ध्यानेन प्राप्नोति यन्मुनिर्नियमात् ।
तस्मात्प्रयत्नचित्ता यूय ध्यान समभ्यसत ॥४७॥

यस्मान्मुनिः साधुर्द्विविधमपि निश्चयव्यवहारद्वयमपि मोक्षमार्गं ध्यानेन प्राप्नोति तस्मात्सावधानमसो यूयं ध्यानं चित्तैकाग्रं समभ्यसत सम्यगभ्यासं कुरुत इति ॥४७॥

बाह्य विषयोंमें सभी प्रकारके वाचिक और कायिक व्यापारों तथा मनमें सभी मानसिक स्पन्दनोंका त्याग कर देता है तो उसका वह आचरण (चारित्र) निश्चयसम्यक्चारित्र कहा गया है। वास्तवमें जबतक वाचिक, कायिक और मानसिक व्यापार चलता रहेगा, तबतक आत्मामें आत्माकी स्थिति सभव नहीं है। और उसके विना निश्चयचारित्र प्राप्त नहीं हो सकता ॥४६॥

हि० रू०—चूंकि साधु ध्यानके द्वारा पूर्वोक्त दोनों ही निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गोंको प्राप्त करता है। इसलिए हे भव्यजन ! आप लोग ध्यानका सम्यक् अभ्यास करो।

सं० व्या०—ध्यानसिद्ध्यर्थं किं करणीयमित्यत आह—

मा मुह्यत मा रज्यत मा द्विष्यत इष्टानिष्टार्थेषु ।
स्थिरमिच्छत यदि चित्तं विचित्रध्यानप्रसिद्ध्यै ॥४८॥

ध्यानं चतुर्विधम्—आर्त्तम्, रौद्रम्, धर्म्यम्, शुक्लञ्च । तत्राद्ये आर्त्तरौद्रे हेये, संसारकारणत्वात् । धर्म्यशुक्ले चोपादेये, मोक्षकारणत्वात् । अतोऽत्र मोक्षमार्गप्रकरणाद् धर्म्यशुक्ले ध्याने एव गाथोक्तविचित्रध्यानपदेन विवक्षिते स्तः । धर्म्यं चतुर्विधम्—आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयभेदात् ।

तत्र स्वस्य मन्दबुद्धित्वात् विशिष्टोपदेष्टुरभावात् कर्मोदयात् सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टान्तोपरमे सर्वज्ञप्रणीतमागमं प्रमाणीकृत्य 'इत्थमेवेदं नान्यथावादिनो जिनाः' इति गहनपदार्थश्रद्धानादर्थावधारणमाज्ञाविचयः । सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः । 'कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः । लोकसंस्थानस्वभावावधानं संस्थानविचयः ।

हि० रू०—विभिन्न ध्यानोंको सिद्ध करनेके लिए ग्रन्थकार इस गाथाद्वारा निर्देश करते है कि यदि अनेक प्रकारके ध्यानोंको साधनाके लिए चित्तको स्थिर करना चाहते हो, तो इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंमें मोह मत करो, राग मत करो और द्वेष मत करो। तात्पर्य यह कि द्विविध मोक्षमार्गका कारण मुख्यतया ध्यान है और ध्यान चित्तकी एकाग्रताको कहा है। अतः जो आत्महितैषी ध्यानकी साधना करना चाहता है उसे सर्व प्रथम अपने चित्तको स्थिर करना आवश्यक है तथा चित्तकी स्थिरताके लिए इष्ट और अनिष्ट वस्तुओंमें मोह, राग और द्वेषका न होना बहुत जरूरी है। जब तक इष्ट वस्तुओंमें

मोह एवं राग और अनिष्ट वस्तुओंमें द्वेषका प्रवाह बहता रहेगा, तब तक चित्तकी चंचलता दूर नहीं हो सकेगी और उसके दूर हुए विना किसी भी ध्यानकी साधना सम्भव नहीं है और बिना ध्यानके द्विविध मोक्षमार्ग (रत्नत्रय)की प्राप्ति असम्भव है। इसलिए ध्याताको मोह, राग और द्वेष इन तीन आत्म-कल्याण एवं ध्यानके शत्रुओंसे अपनी सदैव रक्षा करना आवश्यक है। तभी वह नाना ध्यानोंकी साधना कर सकता है।

ध्यान चार प्रकारका है—आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल। इनमें आदिके आर्त्त और रौद्र ध्यान तो संसारके कारण हैं। अतः वे हेय हैं। और धर्म्य तथा शुक्ल ये दो ध्यान मोक्षके कारण होनेसे उपादेय है। इन्हीं दोका आगे कुछ कथन किया जाता है। धर्म्यध्यान चार तरहका है—आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय और संस्थान-विचय। अपनी मन्दबुद्धि-होने, उपदेष्टाके न होने, कर्मका उदय होने और पदार्थोंके सूक्ष्म होनेसे उनका हेतुओं तथा दृष्टान्तोंद्वारा निर्णय न होसकनेपर सर्वज्ञ-प्रणीत आगमको प्रमाण मानकर 'यह इसी तरह है, जिन अन्यथावादी नहीं होते' इस प्रकार जिनोक्त आज्ञासे उन सूक्ष्म पदार्थोंको निश्चितरूपसे स्वीकार करना आज्ञाविचय नामका प्रथम धर्म्यध्यान है। सन्मार्गसे च्युत हो रहे जीवोंको देखकर उनके सन्मार्गसे अपाय (दूर होने) का चिन्तन करना अपाय-विचय नामका द्वितीय धर्म्यध्यान है। अथवा, ये प्राणी मिथ्या-दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे कैसे दूर होंगे—छुटकारा पायेंगे—इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है। ज्ञानावरणादि कर्मोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावनिमित्तक फलके अनुभवके प्रति उपयोगका होना विपाक-

शुक्लामपि चतुर्विधम्। तद्यथा—पृथक्त्ववितर्कवीचारम्, एकत्ववितर्कवीचारम्, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिसंज्ञम्, व्युपरतक्रियानिवृत्तिसंज्ञं च शुक्ल ध्यानमिति। तत्र तावत्पृथक्त्ववितर्कवीचारं कथ्यते। द्रव्यगुणपर्यायाणां भिन्नत्वं पृथक्त्वं भण्यते। भावश्रुतं तद्वाचकमन्तर्जल्पवचनं वा वितर्को भण्यते। अनीहितवृत्त्यार्थान्तरपरिणमनं वचनाद्वचनान्तरपरिणमनं मनोवचनकाययोगेषु योगाद्योगान्तरपरिणमनं वीचारो भण्यते। 'वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः' इत्यभियुक्तैः प्रतिपादनात्। अयमत्रार्थः—यद्यपि ध्याता पुरुषः स्वशुद्धात्मसंवेदन विहाय बहिश्चिन्तां न करोति तथापि यावतांशेन स्वरूपे स्थिरत्व नास्ति तावतांशेनानीहितवृत्त्या विकल्पाः स्फुरन्ति, तेन कारणेन पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान कथ्यते।

विचय धर्म्यध्यान है। तथा लोकके आकार और स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना संस्थानविचय धर्म्यध्यान है। इस धर्म्यध्यानसे संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्तिका भाव दृढ़ होता है तथा आगामी कर्मोंका संवर और संचित कर्मोंकी निर्जरा होती है।

शुक्लध्यान चार प्रकारका है—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति। पृथक्त्ववितर्क वह ध्यान है, जिसमें वितर्क और वीचार दोनों होते हैं। विशेष तर्कणारूप श्रुतको वितर्क कहते हैं और अर्थ, व्यञ्जन तथा योगके परिवर्तनको वीचार कहते हैं। तात्पर्य यह कि जिस ध्यानमें शुभ और शुद्ध मानस विकल्पोंके साथ द्रव्यसे पर्याय और पर्यायसे द्रव्य, एक श्रुतवचनसे दूसरे श्रुतवचन और दूसरे श्रुतवचनसे पहले या अन्य श्रुतवचन तथा काययोगसे दूसरे योगों अथवा दूसरे योगोंसे काययोगपर उपयोगको स्थिर किया जाय, वह पृथक्त्ववितर्कवीचार ना-

अयं ध्याताऽपर्याप्तबालोत्साहवदव्यवस्थितेनानिशितेनापि शस्त्रेण चिरात्तरु छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशमयन्क्षपयंश्च पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानभाग्भवति। इदं ध्यानमुपशमश्रेण्या गुणस्थानचतुष्टये भवति, क्षपकश्रेण्याश्चाद्यत्रये गुणस्थाने भवति। निजशुद्धात्मद्रव्ये निर्विकारात्मसुखसंपत्तिपर्याये वा निरुपाधिस्वसंवेदनगुणे वा यत्रैकस्मिन् प्रवृत्तं तत्रैव वितर्कसंज्ञेन स्वसंवित्तिलक्षणभावश्रुतबलेन स्थिरीभूय वीचारं गुणद्रव्यपर्यायपरावर्त्तनं न करोति यत्तदेकत्ववितर्कम्। एतद्ध्यानध्याता पुरुषः समूलतूलं मोहनीयं निर्दिधक्षन्ननन्तगुणविशुद्धियोगविशेषमाश्रित्य बहुतराणां ज्ञानावरणसहायीभूतानां प्रकृतीनां बन्धं निरुन्धन् स्थितेः ह्रासक्षयौ च कुर्वन् श्रुतज्ञानोपयोगी निवृत्तार्थव्यञ्जनयोगसक्रान्तिरविच-

---

मका प्रथम शुक्लध्यान है। इस ध्यानसे ध्याता मोहनीयकी कर्म-प्रकृतियोंका या तो उपशम करता है या क्षय करता है। इस ध्यानके ध्याताका मन उस कम उत्साही बालकके अव्यवस्थित और मोथरे शस्त्रके समान होता है, जो ऐसे शस्त्रसे चिरकालमें वृक्षको छेदता है। उसी तरह इस ध्यानका ध्याता भी वितर्क एवं वीचार युक्त मनसे मोहतरुको चिरकालमे छेदता है।

जो ध्याता समूल मोहनीयकर्मका दाह करना चाहता है, जो अनन्तगुणी विशुद्धिको लेकर ज्ञानावरणकी सहायीभूत प्रकृतियोंके बन्धको रोकता है, जो कर्मोंकी स्थितिको न्यून या नाश करता है, जो श्रुतज्ञानके उपयोगसे युक्त है, पर अर्थ, व्यञ्जन और योगकी संक्रान्तिसे रहित है, निश्चल मनवाला है, क्षीणकषाय है, और वैडूर्यमणिके समान निरुपलेप है और जो ध्यान करके पुन. नहीं लौटता है, उसके एकत्ववितर्क नामका द्वितीय शुक्ल ध्यान होता है। इस ध्यानसे शेष तीन घातिकर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय) का नाश और केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है।

लितमनाः क्षीणकषायो वैडूर्यमणिरिव निरुपलेपो ध्यात्वा पुनर्न निवर्तते। अनेनैव ध्यानेन केवलज्ञानोत्पत्तिर्भवति। सूक्ष्मकायक्रियाव्यापाररूपं च तदप्रतिपाति च सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिसञ्ज्ञं तृतीयं शुक्लध्यानम्। तच्चोपचारेण सयोगकेवलिजिने भवतीति। एतद्ध्यानी यदाऽन्तर्मुहूर्तायुष्कस्तत्तुल्यस्थितिवेद्यनामगोत्रश्च भवति तदा सर्ववाङ्मानसयोगं वादरकाययोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकाययोगावलम्बनः सन् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानमास्कन्दितुमर्हतीति। यदा पुनरन्तर्मुहूर्तायुष्कस्ततोऽधिकस्थितिशेषकर्मत्रयो भवति सयोगी तदातिशयविशेषात्समीकृतस्थितिशेषकर्मचतुष्टयः सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं ध्यायति। ततस्तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिध्यानं व्युपरतक्रियानिवृत्त्यपरनामधेयं ध्यायति। विशेषेणोपरता क्रिया यत्र तद् व्युपरत-

---

जब अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रह जाती है तथा वेदनीय, नाम और गोत्रकर्मकी स्थिति आयुके बराबर होती है तब सब प्रकारके वचनयोग, मनोयोग और बादरकाययोगको छोड़कर तथा सूक्ष्मकाययोगका आश्रय लेकर सयोगीजिन जिस ध्यानको ध्याते हैं वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामका तीसरा शुक्लध्यान है। यदि उन सयोगीजिनकी आयु तो अन्तर्मुहूर्त है; पर शेष कर्मोंकी स्थिति अधिक है, तो वे आत्माके अतिशयविशेष (केवलिसमुद्घात—क्रियाविशेष)से शेष, कर्मोंकी स्थितिको आयुके बराबर करके सूक्ष्मकाययोगके द्वारा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानको माड़ते है।

जिस ध्यानमें समस्त क्रियाएँ (सूक्ष्म भी) विरत हो जाती हैं वह व्युपरतक्रियानिवृत्ति या समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति नामका चतुर्थ शुक्लध्यान है। इस ध्यानमें सब प्रकारके कर्मबन्धके आस्रव रुक जाने तथा शेष सब अघातिकर्मोंके नाश-

क्रियं तदनिवृत्ति च तद् व्युपरतक्रियानिवृत्तिसंज्ञं चतुर्थं शुक्लध्यानं ज्ञेयम्। अस्मिन् ध्याने सर्वबन्धास्रवनिरोधसर्वशेषकर्मशातनसामर्थ्योपपत्तेरयोगकेवलिनः सम्पूर्णयथाख्यातचारित्रज्ञानदर्शनं सर्वसंसारदुःखजालपरिष्वङ्गोच्छेदजननं साक्षान्मोक्षकारणमुपजायते। स पुनरयोगकेवली भगवांस्तदा सर्वकलङ्कविमुक्तः सन् निरस्तकिट्टधातुपाषाणजात्यकनकवल्लब्धात्मा परिनिर्वाति। व्याख्यातं चतुर्विधं शुक्लध्यानमिति।

गाथोक्तविचित्रध्यानपदेन पदस्थपिण्डस्थरूपस्थरूपातीतध्यानचतुष्टस्यापि ग्रहणं भवति। तेषां लक्षणं तु—

'पदस्थं मंत्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम्॥' इति ॥४८॥

करनेकी शक्ति उत्पन्न हो जानेसे अयोगीजिन संसारके दुःख-जालके सम्बन्धका नाश करनेवाले सम्पूर्ण यथाख्यात-चारित्र, ज्ञान और सम्यग्दर्शनरूप साक्षात् मोक्षकारणको प्राप्त कर लेते हैं। वे अयोगकेवली भगवान् इस ध्यानातिशयरूप अग्निसे समस्त कर्मकलङ्कको जलाकर किट्टधातु व पाषाणका नाशकर शुद्ध हुए सोनेके समान अपने शुद्धात्माको प्राप्तकर परिनिर्वाण प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार धर्म्य और शुक्ल दोनों ध्यान मोक्षके कारण हैं।

गाथोक्त 'विचित्रध्यान' पदसे पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार तरहके ध्यानोंका भी ग्रहण होता है। मंत्रवाक्योंका ध्यान पदस्थ, आत्माका चिन्तन पिण्डस्थ, समस्त चिद्रूपका ध्यान रूपस्थ और निरञ्जनका चिन्तन रूपातीत है। इनका विशेष कथन 'ज्ञानार्णव' आदिसे जानना चाहिए।

इन सब ध्यानोंकी साधनाके लिए मनकी समस्त तरङ्गों (रागद्वेषादिविकल्पों) से मुक्त होना अत्यन्त आवश्यक है ॥४८॥

सं० व्या०—कानि तानि मन्त्रपदानि येषां ध्यानं करणीय-मित्यत आह—

पञ्चत्रिंशत् षोडश षट् पञ्च चत्वारि द्विकमेकं च जपत ध्यायत ।
परमेष्ठिवाचकानामन्यच्च गुरूपदेशेन ॥ ४९ ॥

'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झा-याणं, णमो लोए सव्वसाहूण' इत्युक्तानि पञ्चत्रिंशदक्षराणि सर्वपदानि भण्यन्ते। 'अरहत-सिद्ध-आयरिय-उवज्झाय-साहू' इत्येतानि षोडशा-क्षराणि नामपदानि भण्यन्ते। 'अरहत-सिद्ध' एतानि षडक्षराणि अर्हत्सिद्धयोर्नामपदे द्वे भण्येते। 'असिआउसा' इत्युक्तानि पञ्चा-क्षराणि आदिपदानि भण्यन्ते। 'अरहंत' इदमक्षरचतुष्टयमर्हतो नाम-पदम्। 'सिद्ध' इत्यक्षरद्वयं सिद्धस्य नामपदम्। 'अ' इत्येकाक्षरमर्हत आदिपदम्। अथवा 'ओं' इत्येकाक्षरं पञ्चपरमेष्ठिनामादिपदम्। तत्कथमितिचेत्—

'अरहता असरीरा आयरिया तह उवज्झया मुणिणो।
पढमक्खरणिप्पण्णो ओंकारो पंचपरमेट्ठी ॥ १ ॥

'इति गाथाकथितप्रथमाक्षरैः 'ओं' इति निष्पन्न भवति। (अ+अ +आ+उ+म=ओ इति)। एतेषां पदानामिहामुत्र स्वेष्टफलप्रदा-

हि० व्या०—पंचपरमेष्ठीके प्रतिपादक पैंतीस, सोलह, छह, पांच, चार, दो और एक अक्षररूप मन्त्रपदोंका जाप करो और ध्यान करो। इनके अतिरिक्त गुरुके उपदेशसे अन्य मन्त्र-पदोंका भी जाप तथा ध्यान करो।

प्रसिद्ध 'णमोकार' मन्त्र पैंतीस अक्षरोंका,'अरहंत-सिद्ध-आय-रिय-उवज्झाय-साहू' यह सोलह अक्षरोंका, 'अरहंत सिद्ध' यह छह अक्षरोंका, 'अ सि आ उ सा' यह पांच अक्षरोंका, 'अरहंत'

नामर्थं ज्ञात्वा पश्चादनन्तज्ञानादिगुणस्मरणरूपेण वचनोच्चाररूपेण च जापं कुरुत, तथैव मौनेन ध्यायत ॥४९॥

स० व्या०—इत. परं पञ्चाना परमेष्ठिनां स्वरूपं प्रतिपादयति । तत्र तावदर्हतः स्वरूपं कथयति—

नष्टचतुर्घातिकर्मा दर्शनसुखज्ञानवीर्यमयः ।
शुभदेहस्थ आत्मा शुद्ध अर्हद्भिचिन्तनीयः ॥५०॥

यश्चत्वारि घातिकर्माणि नाशितवान्, अनन्तदर्शनज्ञानसुखवीर्याख्यान् गुणविशेषाश्च लब्धवान्, तपोतिशयविशेषात्सप्तधातुरहिते शुभे परमादारिके देहे शरीरे स्थितिमवाप्तवान्, शुद्ध क्षुधाद्यष्टादशदोषविनिमुक्त. स आत्माऽर्हत्परमेष्ठी ज्ञेयो ध्येयश्चेति ॥५०॥

स० व्या०—अथ सिद्धपरमेष्ठिन. स्वरूप कथयति—

नष्टाष्टकर्मदेहो लोकालोकस्य ज्ञायको द्रष्टा ।
पुरुषाकार आत्मा सिद्धो ध्यायेत लोकशिखरस्थ. ॥५१॥

कर्म त्रिविधम्—द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म च । तत्र ज्ञानावर-

---

यह चार अक्षरोका, 'सिद्ध' यह दो अक्षरोका और 'अ' अथवा 'ओं' यह एक अक्षरका मन्त्रपद है । इनके स्मरण तथा ध्यानसे इस लोक तथा परलोकमें इष्ट फलकी प्राप्ति होती है ॥४९॥

हि० रू०—जिसने चार घातिकर्मोंको नाश कर दिया है, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन चार गुणविशेषों (अनन्तचतुष्टय) को पा लिया है, शुभ शरीरमें अवस्थित है, क्षुधा आदि अठारह दोषोंसे रहित होनेके कारण शुद्ध है वह आत्मा अरहन्त परमेष्ठी है और वह ध्यान करने योग्य है ॥५०॥

हि० रू०—आत्मगुणोको रोकनेवाले पुद्गलविशेषको

णाद्यष्टकर्माणि द्रव्यकर्म, रागद्वेषमोहादि भावकर्म, शरीरादि च नोकर्म। एतैस्त्रिविधकर्मभिर्वर्जितः, लोकालोकस्य ज्ञाता द्रष्टा वा, पुरुषाकारः किञ्चिदूनचरमशरीराकारः। लोकाग्रे स्थित आत्मा सिद्धपरमेष्ठी, स ध्यातव्य इति ॥५१॥

स० व्या०—अधुनाऽऽचार्यपरमेष्ठिन स्वरूपं वक्ति—

दर्शनप्रधाने वीर्यचारित्रवरतप आचारे।
आत्मानं परं च युनक्ति स आचार्यो मुनिर्ध्येयः ॥५२॥

आचरति आचारयति वेत्याचार्य.। यो हि दर्शनज्ञानवीर्यचारित्रतपःसु पञ्चस्वाचारेषु स्व पर च योजयति सो मुनिराचार्य परमेष्ठी ध्येयः ॥५२॥

स० व्या०—सम्प्रत्युपाध्यायपरमेष्ठिनः स्वरूप कथयति—

यो रत्नत्रययुक्तो नित्यं धर्मोपदेशने निरतः।
स उपाध्याय आत्मा यतिवरवृषभो नमस्तस्मै ॥५३॥

कर्म कहते है। यह कर्म जीवको स्वतन्त्र नहीं होने देता और उसे निगडादिकी तरह पराधीन बनाये रखता है। वह तीन प्रकारका है—द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म। ज्ञानावरणादि आठ कर्म द्रव्यकर्म है, राग, द्वेष, मोह आदि आत्मविकार भावकर्म हैं और शरीरादि बाह्य पुद्गल नोकर्म हैं। जो आत्मा इन तीनों प्रकारके कर्मोंसे रहित है, लोक तथा अलोकका ज्ञाता तथा दृष्टा है। कुछ कम अन्तिम शरीरके आकार है और लोकके अग्रभागमें स्थित है वह सिद्ध परमेष्ठी है। उसका ध्यान करे ॥५१॥

हि० रू०—जो महात्मा दर्शनाचार, ज्ञानाचार, वीर्याचार, तपः आचार और चारित्राचार इन पॉच आचारोंका स्वयं पालन करता व दूसरोंसे उनका पालन करवाता है वह आचार्य परमेष्ठी है और वह ध्यान करने योग्य है ॥५२॥

यः खलु रत्नत्रयविशिष्टः, नित्य सर्वदा धर्मोपदेशदाने संलग्नः, यतिवरवृषभः स आत्मा उपाध्यायः परमेष्ठी, तस्मै नमो द्रव्यभावरूपो नमस्कारोऽस्तु ॥ ५३॥

स० व्या०—अथ साधुपरमेष्ठिनः स्वरूप प्रतिपादयति—

दर्शनज्ञानसमग्रं मार्गं मोक्षस्य यो हि चारित्रम् !
साधयति नित्यशुद्धं साधुः सो मुनिर्नमस्तस्मै ॥५४॥

यो हि समग्र परिपूर्णं दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्षस्य मार्गं नित्यशुद्धं सर्वदा निर्दोष साधयति पालयति स मुनिः साधुः परमेष्ठी भवति, तस्मै एवगुणविशिष्टाय साधवे नमो नमस्कारोऽस्त्विति ॥५४॥

स० व्या०—साम्प्रत पञ्चानामपि परमेष्ठिनां समासतः स्वरूप-मुक्त्वा निश्चयध्यान कस्य भवतीति प्रतिपादयति—

यत्किञ्चिदपि चिन्तयन्निरीहवृत्तिर्भवति यदा साधुः ।
लब्ध्वा चैकत्वं तदाऽऽहुस्तस्य निश्चयं ध्यानम् ॥५५॥

हि० रू०—जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-रूप रत्नत्रयसे विशिष्ट है, सदा धर्मका उपदेश (ज्ञानदान) करनेमें संलग्न रहता है, विशिष्ट ज्ञानी होनेके कारण संघके मुनिवरोंमें प्रमुख है वह आत्मा उपाध्याय परमेष्ठी है, उसके लिए हमारा द्रव्य और भाव दोनों प्रकारका नमस्कार है। अर्थात् हम उसे श्रद्धा एव विनयपूर्वक शिर झुकाते और निश्चय ही उसे ध्यानयोग्य मानते हैं ॥५३॥

हि० रू०—जो मुनि सम्पूर्ण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्गकी साधना करता है वह साधु परमेष्ठी है। उसे हमारा विनम्र नमस्कार है अर्थात् वह हम सबके द्वारा ध्यान करने योग्य है ॥५४॥

यदा यस्मिन्काले साधुरेकत्वं चित्तस्यैकाग्र्यं लब्ध्वा प्राप्य यत्किञ्चिदपि ध्येयं वस्तु चिन्तयन्निरीहवृत्तिर्निस्पृहवृत्तिर्भवति तदा तस्मिन्काले तस्य निश्चय ध्यानमाहुर्जिना इति। अथ भावः—चित्तै-काग्र्यं समवलम्ब्य किमपि ध्येय ध्यायतः साधोर्यदा कस्मिंश्चिदपि वस्तुनि स्पृहा न भवति तदा तस्य निश्चयाख्य ध्यान शुक्लध्यान-मित्यर्थः ॥५५॥

सं० व्या०—अथ शुभाशुभमनोवाक्कायनिरोधे कृते सत्यात्मनि स्थिरो भवति तदेव परमं ध्यानमित्युपदिशति—

मा चेट्ठत मा जल्पत मा चिन्तयत किमपि येन भवति स्थिरः।
आत्माऽऽत्मनि रत इदमेव परं ध्यानं भवति ॥५६॥

हे विवेकिजनाः! यूय नित्यनिरञ्जननिष्क्रियनिजशुद्धात्मानुभूति-प्रतिबन्धकं शुभाशुभचेष्टारूप कायव्यापार मा कुरुत, तथैव शुभा-

---

हि० रू०—चित्तको एकाग्र करके जिस किसी भी ध्येय (द्रव्य या पर्याय आदि) वस्तुका चिन्तन करता हुआ साधु जब समस्त स्पृहाओंको छोड़ देता है, तो उस समय उसके निश्चय ध्यान (उत्कृष्ट ध्यान–शुक्लध्यान) का होना बतलाया गया है। वास्तवमें जब तक चित्तमें एकाग्रता नहीं होगी, तबतक निर्विकल्प अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती और जबतक निर्विकल्प अवस्था प्राप्त न होगी, तबतक निश्चयध्यानका होना दुर्लभ है। अतः निश्चयध्यानकी प्राप्तिके लिए चित्तको एकाग्र करके समस्त विकल्पोंका त्याग करना आवश्यक है ॥५५॥

हि० रू०—हे ज्ञानियो! तुम शुभाशुभचेष्टारूप कोई शरीरका व्यापार मत करो, शुभाशुभ बहिर्जल्प व अन्तर्जल्परूप कोई वचन-व्यापार मत करो और इसी तरह शुभ अथवा अशुभ मानसविकल्प-

शुभान्तर्बहिर्जल्परूपं वचनव्यापार मा कुरुत, तथैव शुभाशुभविकल्प-जालरूप चित्तव्यापारञ्चापि किमपि मा कुरुत। येन योगत्रयनिरोधेनात्मा स्थिरो निर्व्यापारः सन् सहजशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वसम्यक्-श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकपरमसमाधिसमुद्भूतसर्वप्रदेशाह्लादजनकसुखास्वादपरिणतिमहिते निजात्मनि रतः परिणतस्तल्लीयमान-स्तन्मयो भवति। इदमेवात्मसुखे लीनत्व परमुत्कृष्ठ ध्यानं भवति ॥५६॥

सं० व्या०—ध्येयस्वरूप ध्यानस्वरूपञ्चाभिधायेदानीं ध्यातृस्वरूपं कथयति—

तपःश्रुतव्रतवान् चेता ध्यानरथधुरन्धरो भवति यस्मात्।
तस्मात्तत्त्रिकनिरतास्तल्लब्ध्यै सदा भवत ॥५७॥

हे भव्या.! यस्मात्तपःश्रुतव्रतवानात्मा ध्यानरथस्य धुरन्धर. समर्थो भवति, तस्मात्कारणात् तल्लब्ध्यै ध्यानप्राप्त्यर्थं तत्त्रिकनिरतास्तपः-श्रुतव्रतत्रितये रताः सर्वकाल भवत ॥५७॥

रूप चित्तका कोई व्यापार भी मत करो। इस तरह काय, वचन और मनके व्यापारोंको रोकनेसे आत्मा स्थिर होता हुआ ज्ञाना-नन्दस्वभाव निजात्मामें तल्लीन होकर तन्मय होता है। यही तन्मय होना उत्कृष्ट ध्यान है—निश्चय ध्यान है और साक्षात्-रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्गकी प्राप्तिका उपाय है ॥५६॥

हि० रू०—चूंकि तप, श्रुत और व्रतोंवाला आत्मा ध्यान-रथको ले जानेमे समर्थ होता है, इसलिये ध्यानकी प्राप्तिके लिए उन तीनों—तप, श्रत और व्रतोंमें सदा रत होओ।

वस्तुत ध्याता वही हो सकता है जो सदा अनशनादि-तपोंको करता है, श्रुताभ्यासमें लीन रहता है और संयमके आराधनमें लगा रहता है। अतः ध्याताको उक्त तीन गुणों-वाला होना बहुत आवश्यक है। तभी वह ध्यानकी प्राप्ति कर सकता है ॥५७॥

स० व्या०—अथ ग्रन्थान्ते ग्रन्थकृत्स्वस्य लघुतां प्रकाशयन्नाह—

द्रव्यसंग्रहमिनं मुनिनाथाः दोषसंचयच्युताः श्रुतपूर्णाः ।
शोधयन्तु तनुसूत्रधरेण मिनिचन्द्रमुनिना भणितो यः ॥५८॥

मया तनुसूत्रधरेणाल्पश्रुतवताऽल्पज्ञेन नेमिचन्द्रमुनिना श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवाभिधानेन मुनिना दर्शनादिपञ्चाचारोपेतेनाचार्येण यो द्रव्यसग्रहाभिधानो ग्रन्थो भणितः कथितस्त द्रव्यसग्रहाख्यं ग्रन्थमिमं प्रस्तुत मदमात्सर्यादिदोषरहिता. श्रुतपूर्णा आगमनिष्णाता मुनिनाथा मुनिप्रवरा· शोधयन्तु दोषरहित कुर्वन्त्विति ग्रन्थकृन्निवेदयति ॥५८॥

द्रव्यसंग्रहस्य सक्षिप्त-सस्कृत-व्याख्यायां
तृतीयोऽधिकार. समाप्त ॥३॥
॥ समाप्तश्चायं द्रव्यसग्रहः ॥



हि० रू०—इस अन्तिम गाथा द्वारा ग्रन्थकार श्रीनेमिचन्द्र-सिद्धान्तिदेव अपनी लघुताका प्रकाशन करते हुए कहते हैं कि मुझ अल्पज्ञानीने द्रव्यसंग्रह नामके प्रस्तुत ग्रन्थकी रचना की है। उसमें न्यूनतादि दोष सम्भव है। अतः मदमात्सर्यादि दोषोंसे रहित और श्रुतनिष्णात मुनिप्रवर उसे शुद्ध कर ले, ऐसा मेरा उनसे परोक्ष निवेदन है।

द्रव्यसंग्रह कितना व्यवस्थित और महत्त्वका ग्रन्थ है, यह स्पष्ट है। फिर भी ग्रन्थकारने जो अपनेको अल्पज्ञ कहकर और श्रुतनिष्णातोंसे उसे शुद्ध करनेका निवेदन किया है उससे उनकी निरहंकार वृत्तिका परिचय मिलता है ॥५८॥

द्रव्यसंग्रहके हिन्दी रूपान्तरमें तृतीय अधिकार सम्पूर्ण हुआ ॥३॥
॥ द्रव्यसंग्रह समाप्त ॥

२२-५-६६

परिशिष्ट २

द्रव्यसंग्रहका गाथानुक्रम

परिशिष्ट ३

पं० जयचन्दजीकृत वचनिकागत उद्धरण-वाक्य

परिशिष्ट ४

द्रव्यसंग्रह-वचनिकाके पाठान्तर

(व और ज प्रतियोके आधारसे)

व प्रति	ज प्रति	पृष्ठ	पंक्ति
ॐ नम सिद्धेभ्य	व प्रति जैसा	१	१
सुमगलकारि	,,	१	६
अैसे	,,	१	१२
नाम	,,	१	१२
काहू	,,	२	२
सिष्य	,,	२	२
अैसा	,,	,,	३
अैसा	,,	,,	७
नाम	नामा	,,	७
हूँ	व प्रति जैसा	,,	६
वाचियो	,,	,,	६
हीनाधिक	,,	,,	१०
पडित	,,	,,	१०
न करै, गुणका ग्रहण करै	,,	,,	१२
निक्षेपनि	,,	,,	१३
स्वरूप तौ	,,	,,	१३
तिनिमैं	,,	,,	१४
अैसा	,,	,,	१४,१५

व प्रति	ज प्रति	पृष्ठ	पंक्ति
जाणै	व प्रति जैसा	,,	१६
अनेकाधर्मा	,,	,,	१७
श्रुत	,,	,,	१८
प्रमाण	,,	,,	१९
मतिज्ञानमै	,,	,,	२०
मतिश्रुत	,,	,,	२३
होय नाही है	,,	३	३
ए है	,,	,,	५
नय है	,,	,,	५
जेते भेद	,,	,,	१९
सो तौ	,,	,,	२१
नारक आदि	नरनारक आदि	४	८
व्यवहाररूप कहै	व प्रति जैसा	,,	१३
अैसा	,,	,,	१४
अनेकरूप भेद	अनेकरूप	,,	१६
मान्य	व प्रति जैसा	,,	१७
अैसे	,,	,,	१8
भेदकू	व प्रति जैसा	,,	२०
असत्यार्थ	,,	,,	२०
अैसे	,,	,,	१8
अैसो	अैसा	,,	२१
जानि	मानि	५	३
सुनयरूप	व प्रति जैसा	,,	५
अैसी	,,	,,	७
अैसै	,,	,,	११
होय ह	,,	,,	१५

ब प्रति	ज प्रति	पृष्ठ	पंक्ति
अैसैं	ब प्रति जैसा	,,	१७
अैसै	,,	,,	२०
स्वरूपको शास्त्र	स्वरूपका शास्त्र	६	९
स्वरूप कहि पदार्थकूं	ब प्रति जैसा	,,	१२
ताकू नोआगमभाव	,,	,,	१५
अैसै	,,	,,	१७
अधिकारी वर्णै	,,	,,	२०
अेसे	,,	,,	२१
पचास्तिकायका प्ररूपणका	,,	,,	२३
ताई	,,	७	१
अैसै	,,	७	१३
अैसी	,,	,,	१४
ब्याख्यान	,,	,,	१७
व्यतर	,,	८	२२
तिनिकर	,,	९	७
तीर्थकरदेव	,,	९	७
होय हीगा	,,	,,	१३
सांख्यमतका	,,	१०	१६
लोक परि	,,	,,	१९,२०
मडलीक	,,	,,	२०
कहैसी	,,	,,	२३
क्षयोपशमका	,,	११	१३
मानै	,,	१२	१
भी नय है	,,	,,	५
तदाकार होना ('तहाँका रहेना'के स्थानमे),,		,,	२३
श्रुत	,,	१३	१०

ब प्रति	ज प्रति	पृष्ठ	पंक्ति
अज्ञान भी है	व प्रति जैसा	१३	१२
श्रुत	,,	,,	१६
द्वार	,,	,,	१६
कहावै सो	,,	,,	२१,२२
प्रमाणकी कथनीमैं	,,	१४	५
ग्राह्य	,,	,,	५
मर्याद	,,	,,	७
श्रुत	,,	,,	१५
श्रुत	,,	,,	२१
श्रुत	,,	१५	५
मननके ज्ञान हो तै	,,	,,	५
मानस प्रत्यक्ष	,,	,,	७
करै है	करै है	,,	८
प्रमाण हो है	व प्रति जैसा	,,	१२
परमार्थ	,,	,,	१२,१३
करनवाला	,,	१६	३
आम्ल	,,	,,	१२
मृदु	,,	,,	१३
निश्चयनय जो	,,	,,	१७
प्रवर्त्ते	,,	,,	१८
आगैं	,,	१७	९
अशुद्धनिश्चय लेणा	,,	,,	१५
जो अभेदरूप शुद्ध चेतना	,,	,,	१७
रागादिक भावका	रागादिक भावकर्मका	१८	१
आगैं	व प्रति जैसा	,,	५

ब प्रति	ज प्रति	पृष्ठ	पंक्ति
निश्चयनय तें	ब प्रति जैसा	१८	१०
···नय ते तो	,,	,,	१२
सुख-दु:खकूं भोगवै है	,,	,,	१४
आगें	,,	१६	१
समुद्घात	,,	,,	६
जैसा	,,	,,	६
शुद्धनिश्चयनय करि	,,	,,	९
जाय है	,,	,,	११
समुद्धात	ब प्रति जैसा	१९	१२,१३
मारणातिक	,,	,,	१४
विवहार	व्यवहार	,,	२३
आगें	ब प्रति जैसा	२०	३
अनेक प्रकारके है	,,	,,	१२
आदि जीव है	,,	,,	१४
वादर अर	,,	२१	६
पर्याप्त	,,	,,	७
ए सर्व असैनी ही है	,,	,,	११
सासोसास	,,	२२	१
आगें	,,	,,	३
प्रमत्त, अप्रमत्त	,,	,,	१३
सयोगीजिन	,,	,,	१४
शुद्ध चेतनामात्र	,,	,,	१९
नय दिष्टि	,,	,,	२०
ते तो	,,	२३	१
आगें	,,	,,	६

ब प्रति	ज प्रति	पृष्ठ	पंक्ति
सास्वते अर उत्पाद	व प्रति जैसा	२३	१२
तिनि आठ कर्मके	,,	,,	१५
कर्मके नाशतै	,,	२४	६
स्थिति	,,	,,	१४
आगै	,,	२५	१
कह्या ही	,,	२५	११
सो भाषा, अभाषा	,,	२६	३
तांति	,,	२६	७
स्थूल महास्कन्ध है	,,	,,	१३
तिकूटा	तिकूणा	,,	१४
दालि आदि प्रसिद्ध	व प्रति जैसा	,,	१५
छाहली	,,	,,	१६
असे ए दश	,,	,,	१७,१८
मूर्त्तीक ही है	मूर्त्तीक ही है		२३
मुद्रित प्रति जैसा	तब सो	२७	८
पथमै	व प्रति जैसा	,,	१७
राखै	व प्रति जैसा	,,	१९
बैठाणै नाही	बैठावै नाही	,,	२१
आगै	आगै	२८	१
सर्वद्रव्यनिकूं	व प्रति जैसा	,,	१०
तातै परै	,,	,,	१७
तिनितै अनन्तानन्तगुणा पुद्गल	,,	,,	२०, २१
आगै	,,	२९	३
सो तो	,,	,,	७
यह तो	,,	,,	८

ब प्रति	ज प्रति	पृष्ठ	पंक्ति
कहियै है	ब प्रति जैसा	३०	४
जैसै	,,	,,	१७
अवगाहकू	,,	,,	१८
पूर्व उत्तर वर्त्तना	,,	,,	२१
सो पर्याय है	,,	३१	१
षट् द्रव्यनि	,,	,,	९
पच द्रव्यनि	पाँच द्रव्यानि	,,	१०
अैसै	ब प्रति जैसा	,,	१५
जातै ए द्रव्य	,,	३२	१
देहके	,,	,,	२
ए बहुत प्रदेशी	,,	,,	३
अस्तित्व	,,	,,	६
बहुदेशपणा तै	मुद्रित जैसा	३२	९
प्रदेस	ब प्रति जैसा	,,	१४
बहुरि धर्म, अधर्म द्रव्यके भी लोकाकाशपरिमाण ही है (यह पंक्ति बडौतकी प्रतिमें छूटी हुई है)	,,	,,	२१
नाही है	,,	३३	१८
आकाश एकप्रदेशमात्र		३४	२
अवगाह देणै	,,	३४	११
आकाशका प्रदेश	,,	३४	१४
परिणामादिक तै इतर	,,	३५	१७,१८
अपरिणामादिक तिनिके	,,	३५	१८
जो अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यमे	,,	,,	२०,२१

ब प्रति	ज प्रति	पृष्ठ	पंक्ति
प्रवेश नही है एक क्षेश अवगाह करि तिष्ठै है ऐसा पद है			
सो दृष्ट व्यवहार अपेक्षा है	ब प्रति जैसा	३५	२२, २३
कह्या	,,	,,	२४
अन्यमें ये गुण....	,,	३६	२
भोगवै	,,	,,	१४
कर्मका आस्रव रोकना	,,	३७	१३, १४
कमका आवना	,,	,,	१२
पदरा	,,	३८	१४
फलदैनकी शक्ति	,,	३९	१४,१५
गोमटसार	,,	३९	१८
कर्मपुद्गलका प्रदेशनिका अर आत्मप्रदेशनिका	,,	४०	२, ३
कोऊ	कोई	४०	६
निपजावनेकूं	ब प्रति जैसा	,,	७
कहे	,,	,,	८
परिणाम जे	परिणाम जो	,,	९
प्रकृतिबंध अर प्रदे—	ब प्रति जैसा	,,	१८
स्थिति	,,	,,	१९
कडा	,,	४०	२०
भुलावना	,,	४१	२
आत्मप्रदेशनि	,,	,,	७
रहेगी	,,	,,	८
स्थिति	,,	,,	९
ताका तौ	,,	,,	१३

ब प्रति	ज प्रति	पृष्ठ	पंक्ति
स्थिति	ब प्रति जैसा	४१	१४
मिथ्या	,,	,,	१५
स्थिति	,,	,,	१६
गुणस्थान गया	,,	,,	१६
सो प्रीतिरूप	,,	,,	६
घातिकर्मकी तथा अघातिकर्मकी	,,	४२	८
तिनिका बंध ही स्थिति	,,	,,	१०
स्थिति	,,	,,	७
अैसा मोटा राग तौ सातमा—	,,	,,	१४
ताईं	,,	,,	१५
भेद है ही	,,	,,	२१
ईर्यापथ	,,	,,	२२
रोकना होतैं अन्य	,,	४३	७
चेतनाका परिणाम	,,	,,	९
जेता अंशा अभाव है तेता अंशा	,,	,,	१४
सातमैं	,,	,,	१५
दावि श्रेणी	,,	,,	१८
मोहरूप कालिमा मिटनैतैं	,,	४४	१४,१५
तृषा	,,	४५	७
जेता अंशा इनिमैं	,,	,,	१५
इह बध	,,	,,	१७
नाही ही	,,	,,	२२
हैं तिनिका	,,	४६	५
चेतनाके परिणाम	,,	,,	५,६
सविपाकनिर्जरा	,,	,,	११
जाहीकै	,,	,,	१३

ब प्रति	ज प्रति	पृष्ठ	पंक्ति
जीवनिकै....	जीवकै	४६	१३
सम्यग्दृष्टि जब व्रत	,,	४६	१५
विशुद्धताविशेष	,,	,,	१६
जो सम्यग्दर्शन	,,	४७	४
सर्व	,,	,,	५
कारण आत्माका परिणाम है	,,	,,	६
भये भी तातै	,,	,,	६
अघातिकर्म सत्तामै रहे तातै			
तिनि (यह पाठ ब प्रतिमे त्रुटित है)	,,	,,	७
अंतका परिणाम	,,	,,	८
सिद्धक्षेत्र तिष्ठै तब	,,	,,	९
ते शुभ	,,	४८	३
अर अशुभ	,,	,,	,,

[नोट—आरम्भमें बडौत प्रतिके आधारसे इस ग्रन्थका मुद्रण शुरू हुआ था और इस लिए उसीके पाठ यहाँ तक मूलमें रखे गये है। इससे आगे ब्यावरकी प्रति प्राप्त हो जाने तथा उसके काफी शुद्ध होने से उसीके पाठोको मूलमे रखा गया है। अतः पृष्ठ ४९ से पृष्ठ ८० तकके बड़ौत-प्रतिके पाठान्तर नीचे दिये जाते हैं। साथमें ज प्रतिके पाठान्तर भी सलग्न है। —सम्पादक]

ब प्रति	ज प्रति	पृष्ठ	पंक्ति
प्ररूपण तीसरा	प्ररूपणस्वरूप	५०	१
सामान्यरूप	सामान्यस्वरूप	,,	२
निश्चयकरि	निश्चयनयकरि	,,	७
ब प्रति जैसा	मोक्षका···है, यह जाणूं	,,	८
तिम	तिनि	,,	१५

ब प्रति	अ प्रति	पृष्ठ	पंक्ति
ब प्रति जैसा	प्रवर्त्ते	५१	६
कारणतै	कारण है	,,	७
ब प्रति जैसा	तीनू	,,	८
प्रतीत	प्रतीति	५२	११
अस्तिक्य	आस्तिक्य	,,	१४
'प्रशम' नही है	'प्रशम' है	,,	१९
अर तत्त्वार्थ	अर अतत्त्वार्थ	,,	२१,२२
जातै	ब प्रति जैसा	५३	१
प्रीत	प्रीति	,,	६
जानने	जानने	,,	११
अस्तिक्य	आस्तिक्य	,,	,,
अनुस्वार	अनुसार	,,	१५
अर याकी	अर कायकी	,,	१५
विवहार	विवाद	,,	१७
तो	तौ	५४	९
अर्द्धपुद्गलपरावर्त	ब प्रति जैसा	,,	११
तिनको	तिनिको	,,	१९
ईनकूं उपगारी	इनि हीकूं उपगारी	,,	२१
चलणतै	चलतै	५६	२
श्रुतिसय	सातिशय	,,	११
अनुभवतै होय	अनुभवन होय	,,	१९
निमित्त जानै	निमित्ततै	,,	२१
होई	होय	५७	२
कह्या तैसै	कह्या है तैसें	,,	५
मति श्रुति	मतिश्रुत	,,	११

ब प्रति	ज प्रति	पृष्ठ	पंक्ति
ताके	ताकूं	५७	१४
तिनके	तिनिकैं	,,	१६
होइ	होय	,,	२०
तौकै भी	ताकै भी	,,	,,
निर्बाध व्यवहार है	निर्बाध व्यवहारज्ञान है	,,	२१
पमार्थ यामै	परमार्थतै यामै	,,	२२
निरबाधपणा	निरबाधापणा	,,	२३
अनुभवपणाकै	अनुभवप्रमाणकै	५८	२
दिखावनेको	दिखावनेकू	,,	५
ग्रहण होय है	ब प्रति जैसा	,,	१२
तौ वस्तुका	,,	५९	६
होइ	होय	,,	८
घटै है	घट है	,,	८
होइ	होय	,,	१२
इन	इनि	६०	२
अशुद्धनिश्चयनय	अशुद्धनिश्चयनयकरि	,,	१४
यह असद्भूत-व्यवहाररूप	इह व्यवहाररूप	,,	२०
अनेकात विषै है	अनेकान्त है	६२	३
मानै है नाही	मानै ही नाही	,,	९
संसारकी	ससारोक	,,	१२
अशुद्धनिश्चय कहिये	अशुद्धनिश्चयनय कहिये	,,	१५
अंशतै	अश है	,,	१७
पुण्यप्रकृति तिनका	पुण्यप्रकृतिनिका	,,	२०
पापप्रकृतिका	ब प्रति जैसा पाठ	,,	२०
प्रवृत्ति है	प्रवर्त्तै है	,,	२२

ब प्रति	ज प्रति	पृष्ठ	पंक्ति
अंस	अशा	६३	१
पावतै	ब प्रति जैसा पाठ	,,	२१
दिया	दीया	६४	२
प्रवर्तना	प्रवर्त्तावना	,,	१७
चित्त विशुद्धता	चित्तकी विशुद्धता	,,	२१,२२
परमेष्टीके वचनका	परमेष्ठीके वाचक	६५	११
सिद्धि	सिद्ध	,,	१७,१८,२०,२२
इनि अक्षरनि विषै	इनि विषै	,,	५५
सिद्धि	सिद्ध	६७	७,१४
आचार है	आचार कहै	६८	१७
पूर्ण	परिपूर्ण	६९	१७
प्राप्ति	प्राप्त	७०	१३
चितवन करता संता	चितवता संता	,,	१४
धरै तब	करै तब	,,	१६
मिट जाई	मिटि जाय	,,	१७
होइ जाय	होय जाय	,,	,,
ज्ञानका ध्यान भया ज्ञान है।	ज्ञान ध्यान भया ज्ञान है सो आप है।		
सो आप ही कू	वहाँ आप ही कूं	,,	२१
सिद्धिस्वरूप	व प्रति जैसा	७१	१८
'परमतत्त्वज्ञान' (छूटा है)	'परमतत्त्वज्ञान' है	,,	१९
सुचारित्र	शुद्धचारित्र	,,	२१
'सदानंद' (छूटा है)	'सदानंद' है	७२	१
ते ऐ कारण इत्या-	तप करना इत्या	,,	२०
काहे तै	कहा तै	,,	२३
होइ	होय	७३	६

ब प्रति	ज प्रति	पृष्ठ	पंक्ति
होई	होय	७३	१०
दुर्ल्लभ	ब प्रति जैसा	,,	१३
संपूर्ण	पूर्ण	७४	७
आतममंगल	अंतम मंगल	,,	९
आनंद	अनंद	,,	१८
इन्द्रिन	इन्द्रनि	७५	४
मइ	मयी	,,	५
प्रमाण	प्राण	,,	८
केवलि	केवल	,,	१२
शुभभावहि	शुद्धभावहि	,,	१८
नित्त	निति	७६	८
हित	हति	,,	६
नुनाय	उनाय	,,	६
सिद्धि	सिद्ध	,,	१०
तिन	तिनि	,,	१०
ऊभाय	हू भाय	७६	१०
उज्जास	ब प्रति जैसा	,,	१४
सब हो ए रला	सब ही एरला	,,	२१
अलोक अम्यास	अलोक अभास	,,	२२
प्रदेश	परदेश	७०	१
अणु	अणू	७०	११
सुणो	सुणू	,,	१५
निहार	निहारि	,,	२१
जियकै	जिवकै	,,	२१
बहुभेव	बहुभेद	७८	८

ब प्रति	ज प्रति	पृष्ठ	पंक्ति
पररूप	पर पाप	७८	१४
सुजुदा	सौ जुदा	७६	१
विशेषन	विशेषनि	,,	२
छदमस्थोकै	छद्मस्थाकै	,,	३
परमचरित्त	परमचारित्त	,,	८
यातै	जातै	,,	१०
सिद्धि	सिद्ध	,,	१२
चतु	चउ	,,	१३
च्यार	च्यारि	,,	१५
वीर्य पाय	वीरजि पाय	,,	१५
एकालो	एकलो	८०	४
बढै	ब प्रति जैसा	,,	७
सिद्धि	सिधि	,,	८
तिनभ्रुत	तनुभ्रुत	,,	९

नोट—ज प्रतिमे द्रव्यसग्रह-भाषाका अन्तिम पुष्पिका-वाक्य निम्न प्रकार उपलब्ध है—

'इति द्रव्य-संग्रहभाषा सम्पूर्ण। लिपिकृत मणिकचन्द लिखापित सुखराम सिंभूराम पाण्डीवाल रूपाहेडीका शुभं भूयात्॥

श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमालाके

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१ मेरी जीवन-गाथा भाग १ : द्वितीय संस्करण
(वर्णीजी द्वारा स्वयं लिखित) ४-००

२. ,, ,, भाग २ ,, ,, ४-२५

३. वर्णी-वाणी : भाग १ (द्वितीय संस्करण)
(वर्णीजीके आध्यात्मिक सदेशोका संकलन) ३-५०

४ ,, भाग २ ,, ,, ,, ,, ४-००

५. ,, भाग ३ ,, ,, ,, ,, अप्राप्य

६. ,, भाग ४ (वर्णीजीके अध्यात्मपूर्ण पत्रोका संकलन) ३-५०

७ जैन साहित्यका इतिहास (पूर्वपीठिका) भाग १ :
पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री
(७५० पृष्ठोमे लिखित जैन साहित्यका गवेषणापूर्ण अद्वितीय इतिहास-ग्रन्थ पहलीबार प्रकाशित) १०-००

८. जैन दर्शन (द्वितीय संस्करण) : डा० महेन्द्रकुमारजी जैन
(जैन दर्शनका सागोपाग प्रामाणिक विवेचन) ७-००

९. पंचाध्यायी : मूल—पण्डित राजमलजी
हिन्दी रूपान्तर—पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री
(जैन तत्त्वज्ञानकी विवेचिका अद्वितीय मौलिक कृति) ६-००

१०. श्रावकधर्मप्रदीप : मूल—आचार्य कुन्थुसागर महाराज
हिन्दी-संस्कृत टीका—पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री
(श्रावकाचार-विषयक सरल और विशद रचना) ४-००

ग्रन्थमालाकी भावी प्रवृत्तियाँ

१. वर्णी-साहित्यके साथ दार्शनिक, आध्यात्मिक, नैतिक और चरितात्मक साहित्यका प्रकाशन

२. नये लेखकोंको प्रोत्साहन और उनकी विशिष्ट कृतियोंपर पुरस्कार।

३. छात्र-छात्राओंको ज्ञानकी विधाओंमें परामर्श व छात्रवृत्तियोंका प्रबन्ध।

४. प्रत्येक जिज्ञासुकी जिज्ञासा-पूर्तिमें उचित योगदान।

५. ज्ञान-गोष्ठियो और तत्त्वचर्चाका आयोजन।

६ विशिष्ट व्याख्यानोका प्रबन्ध।

७. शोध-निबन्धों और विशेष लेखोंके प्रकाशनमे साहाय्य।

डा० नेमीचन्द्र शास्त्री — सयुक्त मंत्री

दरबारीलाल कोठिया — मंत्री

श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

सदस्योंको लाभ

१. ग्रन्थमालाका कोई भी व्यक्ति ११-०० देकर सामान्य सदस्य बन सकता है। उसे प्रकाशित ग्रन्थकी तुरन्त सूचना दी जायगी और सभी ग्रन्थोंपर उसे १२-५० रु० प्रतिशत कमीशन दिया जावेगा।

२. ५१-०० रु० प्रदान कर कोई भी सज्जन ग्रन्थमाला-के स्थायी सदस्य बन सकते हैं। प्रकाशित ग्रन्थोंपर उन्हें २५-०० रु० प्रतिशत कमीशन दिया जायेगा।

३. १०१ रु० या इससे अधिक देने वाले महानुभाव ग्रन्थ-मालाके संरक्षक होंगे और उन्हें प्रकाशित ग्रन्थ भेट दिये जायेंगे

विशेष सुविधा

१. उन पुस्तक-विक्रेताओंको ३०-०० रु० प्रतिशत तक कमीशन दिया जा सकेगा, जो पुस्तकोंके रुपए पहले या एक सप्ताहके भीतर भेज देंगे।

२. यह सुविधा उन्हे भी दी जासकेगी, जो भेंटके लिए पुस्तके मँगायेंगे।

३. जिज्ञासु छात्रों, गरीबों और महिलाओंके लिए ३३-०० प्रतिशत तक कमीशन दिया जा सकेगा।

विशेष—ध्यान रहे कि ग्रन्थमाला ये सुविधायें मात्र ज्ञान-प्रचारके उद्देश्यसे दे रही है। प्रकाशनोंका मूल्य वह लागत मात्र रखती है और प्रबन्ध-समितिके सदस्य, मंत्री और अध्यक्ष सभी ग्रन्थमालामे अपना निःशुल्क योगदान कर रहे हैं।

●